ऊहापोह

शान्तिभिक्षुशास्त्री

ऊहापोह

(शान्तिदेव के प्रसंग में)

शान्तिभिक्षुशास्त्री

बुद्धविहार

लखनऊ

२४९९-१९५५

प्रकाशक--
ग० प्रज्ञानन्द
बुद्धविहार
रिसालदार पार्क
लखनऊ

प्रथमवार
एक हजार प्रतिया
मूल्य १)

मुद्रक
पाइनियर प्रेस, लखनऊ।

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक, ऊहापोह, को पाठको के हाथ में देते हुए हमें विशेष प्रसन्नता होती है। ऊहापोह में सगृहीत सामग्री विश्वभारती शान्तिनिकेतन के अध्यापक शान्तिभिक्षुशास्त्री ने अपनी अनूदित वोधिचर्यावतार को भूमिका के रूप में दी है। इसमें विद्वान् लेखक ने वोधिसत्त्वचर्या के चरम विकास काल पर विचार करते हुए वौद्धतत्त्वज्ञान का प्रारभिक काल से मध्यकाल के सन्तों तक, लगभग दो हजार वर्षो के विकासक्रम पर विशद विवेचन किया है। पाठक इसमें देखेंगे कि सातवीं आठवीं शती में वौद्धतत्त्वज्ञान किस प्रकार फला-फूला। यह सत्य है कि तत्त्व-दर्शन सर्वसामान्य जनता का विषय नहीं हो सकता। क्योकि प्राय यह गूढ और जटिल होता है। तथापि इस ओर अभिरुचि रखने वाले तत्त्वग्राही जन की प्रवृत्ति अवश्य होगी। अव तक वौद्ध दर्शन तथा उसके साहित्य के प्रति जो भ्रान्त धारणायें रही हैं उनके निवारण की दिशा में प्रस्तुत पुस्तक से जन-साधारण को सुविधा होगी। इसी भावना से इसे पृथक् पुस्तक का रूप दिया गया है।

यह प्रयास कितनी उपयोगी है यह तो अधिकारी विद्वान् ही कह सकते है। पर प्रकाशक के सबध से इतना ही निवेदन है कि यदि इससे वहुजनहिताय वहुजनसुखाय का लक्ष्य किंचित् भी सिद्ध हो सका तो प्रकाशक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

१४-१०-५५
बुद्धविहार,
लखनऊ

भिक्षु ग० प्रज्ञानन्द

मुखबन्ध

महायान का अध्ययन मैंने आचार्य शान्तिदेव की कृतियों से आरम्भ किया। और समय-समय पर उनके प्रसग से धर्म और दर्शन की कितनी ही बातों की ऊहापोह की। उस सामग्री का कुछ अश शातिनिकेतन से प्रकाशित विश्वभारती पत्रिका में तथा अन्यत्र भी निकला था। बोधिचर्यावतार की भूमिका उसमें से कुछ अश का गुफनमात्र है। पाठकों की सुविधा के लिए उसे 'ऊहापोह' के नाम से पृथक् पुस्तक का रूप दिया जा रहा है।

शातिनिकेतन,
८-१०-५५

शान्तिभिक्षुशास्त्री

विषय सूची

§§१. शान्तिदेव और उनकी कृतियां

§§२. आगमप्रामाण्य का विकास

§§३. बौद्धधर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश और विकास

§§४ ब्राह्मणप्रमुख धर्म में बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया के चिह्न

§§५. भारत के दार्शनिक विकास की पड़ताल

ऊहापोह

§§१. शान्तिदेव और उनकी कृतियां

शांतिदेव का जीवनोपाख्यान

आचार्य शान्तिदेव के संबन्ध म हम बहुत ही कम जानते हैं। सभवत ये सातवीं शती में विद्यमान थे। लामा तारानाथ के अनुसार ये गुजरात के किसी राजा के पुत्र थे और कुछ समय तक पचसिंह राजा के मंत्री रहे थे। अन्त में ये भिक्षु हो गये थे। ये जयदेव के शिष्य थे। जयदेव नालन्दा के पीठस्थविर धर्मपाल के उत्तराधिकारी थे। [A History of Indian Literature by M Winternitz Vol II pp 365-366]

महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्री ने नेपाल से प्राप्त तीन तालपत्रों के आधार पर इंडियन ऐंटीक्वेरी (Indian Antiquary 42, 1913, pp. 49-55) में शांतिदेव की जीवनी पर एक निबन्ध लिखा था। उससे इतना ही और विशेष मालूम होता है कि शांतिदेव के पिता का नाम मंजुवर्मा था। नालन्दा में ये एक कुटी बनाकर रहते थे। अत्यन्त शांत होने के कारण इनका नाम शांतिदेव था। ये भुसुक नाम की समाधि में रत रहते थे। अत इनका नाम भुसुक भी था। (भुजानोऽपि प्रभास्वर सुप्तोऽपि कुटीं ततोऽपि तदेवेति भुसुकसमाधिसमापन्नत्वाद् भुसुक नामख्याति संघेऽपि p 50) चर्यागीतियों में भुसुक के पद हैं। इनके विषय का एक उपाख्यान भी उस जीवनी में है। अत्यन्त शांत एवं सरल होने के कारण छात्र इन्हें बिल्कुल बुद्धू समझते थे। एक दिन धर्मदेशनामंडप में इन्हें आसन पर बिठा दिया। सोचा था कि ये कुछ बोल तो न सकेंगे फिर इन्हें खूब बनाया जायगा। आसन पर बैठकर शांतिदेव ने जिज्ञासा की—किम् आर्षं पठामि, अर्थार्षं वा (=ऋषि वचनों का पाठ करूं अथवा अर्थत ऋषिवचनो का पाठ करूं)? यह सुनते ही सब लोग चकित हुए और कहा कि हम लोग आर्ष (=बुद्धवचन) तो बहुत सुन चुके हैं आप अर्थार्ष (=अर्थत बुद्धवचन) सुनाइये। अनन्तर इन्होंने बोधिचर्यावतार का पाठ करना प्रारभ किया। पर जब ये

> यदा न भावो नाभावो मते संतिष्ठते पृथक्।
> तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति॥ [९।३५]

इस कारिका का पाठ कर रहे थे, आर्य मंजुश्री प्रकट हुए और विमान पर बैठा कर स्वर्ग लेकर चले गये। नालन्दा के पंडितो और छात्रो में बड़ी खलबली मची। सबने इनकी कुटी खोजी। तीन ग्रन्थ मिले—शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार। इन सबने इन तीनों ग्रंथों का प्रचार किया।

शिक्षासमुच्चय

आज शातिदेव की दो कृतिया प्राप्त है—शिक्षा समुच्चय * और बोधिचर्या-वतार। शिक्षासमुच्चय में आचार्य ने सत्ताईस कारिकाओं द्वारा महायान की धार्मिक-चर्या का स्वरूप सूत्र रूप में उपस्थित किया है फिर उन सूत्रों के चारो ओर महा-यानसूत्रो के उद्धरणो की राशि एकत्रित कर दी है। ये उद्धरण आज अध्ययन की अमूल्य निधि है। कारिकाओं में महायान धर्म का जो निरूपण हुआ है उसे यहा ग्रन्थ में प्रवेश कराने के निमित्त दिया जा रहा है।

बोधिसत्त्व सोचता है कि भय और दु ख न तो मुझे ही प्यारा है और न दूसरो को ही। फिर भला मुझमें कौन सी विशेषता है जो मै दूसरों की तो रक्षा नहीं करता पर अपनी रक्षा में लगा रहता हूँ। दु ख का अन्त करने और सुख का छोर पाने की इच्छा से श्रद्धा के मूल को दृढ़ करके बोधि पाने के लिए दृढ यत्न करना चाहिए। बोधिसत्त्व का कर्तव्य है कि आत्मभाव (=शरीर), भोग और त्रैकालिक पुण्यों का प्राणियो के लिए उत्सर्ग कर दे। पर उत्सर्ग तभी हो सकता है जब वह उनकी रक्षा, शुद्धि और वृद्धि कर सके। फलत रक्षा, शुद्धि और वृद्धि का उद्देश्य है उनका प्राणिहित के लिए उत्सर्ग कर देना। यदि इनकी रक्षा न की गयी तो भोग सभव ही कहा और वह दान ही कैसा जिसका कि भोग नहीं। अत प्राणियों को भोग लाभ हो सके, सिर्फ इस ख्याल से इनकी रक्षा बहुत जरूरी है। रक्षा करने में सूत्रों के अध्ययन तथा कल्याण मित्रो की सगति से बहुत सहायता मिलती है। (कारिका १—६) अगली कारिकाओ में बोधिसत्त्व के कर्तव्यो का साधन सहित निर्देश यों हुआ है —

कर्तव्य	साधन
(१) आत्मभाव की रक्षा अर्थात् दुष्कर्म-परित्याग	प्राणिमात्र की सेवा को छोड सब दूसरे कार्य निष्फल है और उन निष्फल कार्यो के त्याग से ही मनुष्य अपनी पूरी रक्षा कर पाता है। स्मृति या जागरूकता से इस अनर्थ का त्याग पूर्णतया सिद्ध हो पाता है। स्मृति उत्कट-आदर या श्रद्धा से होती है। श्रद्धा ज्ञान सहित उत्साह से उत्पन्न होती है जो शम या शाति की महान् आत्मा है। समाहित पुरुष को यथार्थ ज्ञान हुआ करता है और इन ज्ञान के कारण वाह्य चेष्टाओं के रुक जाने से मन शाति से विचलित नहीं होता। बोधिसत्त्व को चाहिए कि सर्वत्र शात रहे। धीमी-धीमी, मापी-जोखी और स्नेह भरी बातो से सज्जनो का मन नरम बनाये रहे। ऐसा करने से लोग उसे चाहते हैं। लोक में उस जिनाकुर (=बोधिसत्त्व)

* सपादक Cecil Bendal M A, St Pètersbou g, (1897-1902)

को जो नहीं चाहता वह राख दबी नरकों की आग में पचता रहता है। वोधिसत्त्व को चाहिए कि जिन वातों से लोग असन्तुष्ट हो उनका यत्न के साथ परित्याग कर दे और इसीलिए तथागत ने संक्षेप से रत्नमेघसूत्र में वोधिसत्त्व के सदाचार का निरूपण किया है। भैषज्य से (मांस-मछली से नहीं) और वस्त्र से ही यह आत्मभाव की रक्षा करनी होती है। भोगों का सेवन भी शरीर-रक्षा के लिए ही करना होता है, तृष्णापूर्ति के लिए नहीं। भोग में तृष्णा रखने से क्लिष्टापत्ति होती है—बड़ा पाप लगता है। [कारिका ७—१३]

(२) भोगरक्षा — पूर्ण रूप से उपायो को जानकर पुण्य करते रहना चाहिए। इस शिक्षापद का आचरण करने से भोगरक्षा सुकर और सहज हो जाती है। [कारिका १४]

(३) पुण्यरक्षा — अपने लिए फल की तृष्णा न रखने से पुण्यो की रक्षा होती है। पुण्य करके कभी पछतावा न करना चाहिए कि मैंने यह क्यों किया, न करता तो भी क्या विगड़ा जाता था। पुण्य करके उसका ढिंढोरा भी न पीटना चाहिए। वोधिसत्त्व को चाहिए कि लाभ और सत्कार से डरता रहे। अभिमान का त्याग कर दे। धर्म में श्रद्धालु रहे तथा धर्म में अविश्वास न करे [कारिका १५—१६]

(४) आत्मभावशुद्धि — आत्मभाव के शुद्ध हो जाने पर भोग उसी तरह पथ्य होता है जैसे देहधारियो के लिए पका भात, जिसमें किनकी नहीं रहती, हितकर होता है। तृणो से ढकी खेती जैसे रोगो से क्षीण हो जाती है, फलती-फूलती नहीं, वैसे क्लेशों से ढका वुद्धाकुर नहीं वढता। पाप रूपी क्लेशों का शोधन करना ही आत्मभाव की शुद्धि है। वुद्ध-वचनों का सार समझ कर उसके अनुसार यत्न न करने से मनुष्य को दुर्गति भुगतनी पड़ती है। क्षमाशील रहना चाहिए। शास्त्र सुनना चाहिए। वन का आश्रय ले समाधि के लिए यत्न करना चाहिए। समाधि—योग करना चाहिए। ससार के प्रति अशुभ-वुद्धि रखनी चाहिए। [कारिका १७—२०]

(५) भोगशुद्धि — सम्यगाजीव अर्थात् जीविका के समीचीन साधनो की शुद्धि से भोग-शुद्धि होती है। [कारिका २१ पूर्वार्ध]

(६) पुण्यशुद्धि — शून्यतादृष्टि तथा करुणाचित्त से (लोक हितार्थ) कार्य

करने से पुण्य-शुद्धि होती है। [कारिका २१ उत्तरार्ध]

(७) आत्मभाववृद्धि — लेने वाले बहुत हैं। देने के लिए यह छोटा सा आत्म-भाव। इससे बनेगा क्या? किसी की पूरी तृप्ति नहीं होगी। इसलिए इसे बढ़ाना होगा। बल और अनालस्य का बढ़ाना ही आत्मभाव की वृद्धि है। [कारिका २२–२३ पूर्वार्ध]

(८) भोगवृद्धि — शून्यतादृष्टि तथा करुणाचित्त द्वारा दान करने से भोग-वृद्धि होती है। [कारिका २३ उत्तरार्ध]

(९) पुण्य वृद्धि — आरभ से ही दृढ़ सकल्प और दृढ़ चित्त से करुणाभाव को आगे करके पुण्य-वृद्धि करनी चाहिए। श्रद्धा सहित भद्रचर्या-विधि करनी चाहिए। वदना, पापदेशना, पुण्यानुमोदना और अध्येषणा का नाम भद्रचर्या है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा बलों का अभ्यास करना चाहिए। चारो ब्रह्म-विहारो की भावना करनी चाहिए। बुद्धानुस्मृति, धर्मानु-स्मति सघानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, शीलानुस्मृति और देवानुस्मृति रखनी चाहिए। सब अवस्थाओं में निरामिष धर्मदान और बोधिचित्त पुण्यवृद्धि के कारण है। चार सम्यक् प्रहाणो द्वारा प्रमाद न करने से, स्मृति और सप्रजन्य तथा गभीर चिन्तन से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है। [कारिका २४—२७]

बोधिचर्यावतार

शिक्षा समुच्चय तथा बोधिचर्यावतार का विषय एक ही है। भेद निरूपण शैली में है। बिना काव्य का प्रयत्न किये ही आचार्य ने उसे धर्म का काव्य बना दिया है। इसके अतिरिक्त बोधिचर्यावतार तथा शिक्षासमुच्चय दोनो ही एक दूसरे के पूरक भी हैं। शून्यवाद का प्रतिपादन बोधिचर्यावतार में है पर शिक्षासमुच्चय में उसका नाम-कीर्तन मात्र है। शिक्षासमुच्चय सूत्रो के उद्धरणो से विपुल ग्रन्थ हो गया है पर बोधिचर्यावतार में सूत्रों का यत्र-तत्र सकेत ही है। समूचा बोधिचर्यावतार नौ सौ तेरह श्लोकों में परिनिष्ठित हुआ है। जिसका विरण यों है —

प्रथम परिच्छेद	बोधिचित्तानुशसा	श्लोक-सख्या	३६
द्वितीय ,,	पापदेशना	,,	६६
तृतीय ,,	बोधिचित्तपरिग्रह	,,	३३
चतुथ ,,	बोधिचित्ताप्रमाद	,,	४८
पचम ,,	सप्रजन्यरक्षण	,,	१०९
षष्ठ ,,	क्षान्तिपारमिता	,,	१३४
सप्तम ,,	वीर्यपारमिता	,,	७५
अष्टम ,,	ध्यानपारमिता	,,	१८६
नवम ,,	प्रज्ञापारमिता	,,	१६८
दशम ,,	परिणामना	,,	५८
			९१३

बोधिचर्यावतार किसी समय बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ था। इसी कारण इस पर अनेको टीकाए हुई थीं। भोट देश में इस ग्रन्थ का पाठ आज भी गीता की भाति होता है। महायान धर्म और दर्शन को सहजभाव से समझने के लिए यह बहुत ही उत्तम ग्रथ है।

आचार्य शतिदेव जिस समय हुए थे वह समय ऐसा था जब बौद्धधर्म पूर्णरूप से विकसित हो चुका था तथा उसमें उन सब धर्मबीजो का वपन हो चुका था, जिनसे कि गाधी-युग से पूर्व का सतों से प्रभावित हिन्दू-धर्म फूला-फला है। इस धर्म में सुभाषितों का बहुत आदर था तथा प्रत्येक सुभाषित जो जाति-कुल आदि के अभिमान से अछूते रह कर मनुष्य को उदात्त भावो की ओर ले जाते थे उन्हें बुद्धवचन मान लिया जाता था*। धर्म में तात्रिक प्रवृत्तियो का समावेश हो चुका था तथा शन्यवाद अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। एक ओर जहा यह सब हो रहा था वहा इस धर्म के सारभाग को ग्रहण करते हुए भी महाभारत और पुराणों के माध्यम से इस धर्म का, विशेष रूप से ससारवैमुख्य तथा जातिवाद-निराकरण के विरोध में भी कार्य हो रहा था। इस प्रतिक्रिया की परिनिष्ठा हम तुलसी के 'मानस' में देखते है। इन सब प्रवृत्तियों के विकास की रूपरेखा यहा प्रस्तुत करना आवश्यक है जिसे 'आगमप्रामाण्य का विकास', 'बौद्धधर्म में तात्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश और विकास', 'ब्राह्मणप्रमुख धर्म में बौद्धधर्म की प्रतिक्रिया के चिह्न' तथा 'भारत के दार्शनिक विकास की पडताल' शीर्षकों में विभक्त कर प्रस्तुत किया जा रहा है।

§§२. आगमप्रामाण्य का विकास

"यत् किंचित् सुभाषित सर्व तद् बुद्धभाषितम्" †

बौद्ध और जैन वेदागम को प्रमाण नहीं मानते, वे अपने-अपने आगमो को प्रमाण मानते है। इस तरह ब्राह्मण, बौद्ध श्रमण तथा जैन श्रमणो में जो परस्पर भेद है वह आगम के कारण है। और यह आगम का भेद इसलिये हुआ कि आगम प्रवर्तको के दार्शनिक विचारों में ही नहीं प्रत्युत् धर्म के व्यावहारिक रूप पर भी भिन्न-भिन्न मत थे। व्यावहारिक और दार्शनिक मतभेदो की चर्चा यहा नहीं की जा सकती पर स्वर्ग-नरक, आवागमन, मोक्ष जैसी बातों में भी जिन पर जनता का बहुत विश्वास था तथा जिनकी चर्चा श्रमण-ब्राह्मण समान भाव से करते थे—परस्पर बहुत भेद था। अदृष्ट या न दिखाई पडने वाली बातो के भेद की पुष्टि केवल आगमो द्वारा ही होती थी और हर सम्प्रदाय के लिए उनकी पुष्टि करना जरूरी भी था। अन्यथा अलग-अलग आगमो का टिकना सभव न था। इस तरह

* यदर्थवद् धर्मपदोपसहित त्रिधातुसक्लेशनिर्वहण वच।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशसदर्शक तदुक्तमार्ष विपरीतमन्यथा॥
(बोधिचर्यावतारपचिका पृष्ठ ४३२)

† वही, पृष्ठ ४३२

अदृष्ट–विषयक भेदों के समर्थन के लिए भिन्न-भिन्न आगमों का रहना जहा जरूरी था वहा उन-उन आगमों को प्रामाणिक या श्रेष्ठ बतलाना भी बहुत अपेक्षित था क्योंकि बिना ऐसा किये उन आगमों की अनुयायी जनता का विश्वास दृढ नहीं किया जा सकता था। जनता के विश्वास को दृढ करना श्रमण-ब्राह्मणो के लिए बहुत जरूरी था। जनता के सहारे ही वे जीते थे। यदि जनता का उन पर से विश्वास उठ जाय तो यह उनके लिए बहुत ही हानि की बात थी। दक्षिणा-दान-भिक्षा के साथ जनता से जो मान-पूजा की प्राप्ति होती थी उसकी रक्षा के लिए उनके लिए जैसे भी हो, जनता के विश्वास को अचल रखना अपेक्षित था।

आगमो की प्रामाणिकता और श्रेष्ठता बतलाने के लिए सब सम्प्रदायो ने बडा प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के फलस्वरूप जिन सिद्धातो का उदय हुआ, वे यों हैं ––

[अ] वेदागम–प्रामाण्य के समर्थक सिद्धात
- I. अपौरुषेयवाद (=अकर्तृत्ववाद)
- II. पौरुषेयवाद (=कर्तृत्ववाद)
  - १ सर्वज्ञ-ईश्वर–कर्तृत्ववाद
  - २ आप्तकर्तृत्ववाद (=यथार्थज्ञ–मनुष्य–कर्तृत्ववाद)

[इ] जैनागम-प्रामाण्य-समर्थक-सिद्धात
- ३. सर्वज्ञवाद

[उ] बौद्धागम-प्रामाण्य-समर्थक सिद्धात
- ४. धर्मज्ञवाद

इन वादो में कौन पहले और कौन पीछे उत्पन्न हुआ, यह बतलाना बहुत कठिन है, त्रिपिटक में प्राचीन ऋषियों को वेद का कर्ता बताया है। अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अगिरा, भरद्वाज, वसिष्ठ, कश्यप और भृगु को तेविज्जसुत्त (दीघनिकाय) में मन्त्रो का कर्ता कहा गया है। मन्त्रकर्ताओं के इन नामो का इसी क्रम से त्रिपिटक में और भी कितनी ही जगहों पर उल्लेख है। बुद्ध से पहले (लगभग ६००ई० पू०) यास्क ने अपने निरुक्त में ऋषियों को ही मन्त्रों का प्रवक्ता कहा है––

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु । (अध्याय १ खड २०)।

ऋषि हुए वे जिन्होने धर्म का साक्षात्कार किया था। उन्होंने उपदेश द्वारा उन लोगों को मत्र प्रदान किये जिन्होने धर्म का साक्षात्कार नहीं किया था और (इसी कारण जो उन ऋषियों की अपेक्षा) अवर (=हीन) थे।

यास्क ने इतना ही नहीं प्रत्युत ऋषि परम्परा पर प्रकाश डालते हुए यह भी बताया कि जो लोग धर्म के साक्षात्कार करने वाले नहीं थे वही प्राचीन ऋषियों के उपदेश या मंत्रो को लेकर ग्रन्थ-रचना करने लगे ––

उपदेशाय ग्लाय तो अवरे बिल्मग्रहणायेम ग्रन्थ समाम्नासिषुर्वेद च वेदागानि च । (निरुक्त अध्याय १––खण्ड २)

उपदेश ग्रहण में असमर्थ उन अवर (=हीन) लोगों ने इस ग्रंथ (= निघण्टु) ।
वेद और वेदागों का सग्रह किया जिनसे स्पष्टतया ज्ञान हो सके !

जो वात यास्क ने कही हैं उसी से मिलती-जुलती वात अग्गञ्ञसुत्त (द
निकाय) में आयी है: "वे (ब्राह्मण) जगल में पर्णकुटी बना कर वहाँ ध्यान व
थे।.. ...उनमें से कितने ध्यान न पूरा कर सकने के कारण ग्राम या निगम के
आकर ग्रन्थ बनाते हुए रहने लगे।. . . उस समय वह नीच समझा जाता
किन्तु आज वह श्रेष्ठ समझा जाता है।"

यास्क और वुद्ध के इन वचनो की तुलना करें तो उसका निष्कर्ष यों होगा—

यास्क	वुद्ध
(१) धर्म का साक्षात् करने वाले ऋषि।	(१) ध्यान करने वाले ब्राह्मण।
(२) धर्म का साक्षात् न करने वाले लोग, और उनका ऋषियों से उपदेश लेना।	(२) ध्यान पूरा न करने वाले ब्राह्म
(३) धर्म का साक्षात् न करने वालों के द्वारा ग्रन्थ-रचना।	(३) ध्यान न पूरा करने वालों द्वारा ग्र रचना।
(४) ×	(४) ग्रन्थ-रचना के कार्य की पूर्व यु निन्दा।
(५) ×	(५) ग्रन्थ-रचना के कार्य की वुद्धयुग प्रशसा।
(६) ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य या स्पष्टतया ज्ञान प्राप्ति का साधन प्रस्तुत करना।	(६) ×

इस तुलना से साफ जान पड़ता है कि यास्क और वुद्ध ने एक ही वात
है। यास्क के विचार से ऋषियों ने ही मन्त्रों का उपदेश दिया और उन्हीं की पर
में चलकर वेदो और वेदागो का निर्माण हुआ। वौद्ध परम्परा भी यास्क की
का ही समर्थन करती है। वुद्ध और उनके पूर्ववर्ती यास्क को यही पता या
ऋषियों ने ही मन्त्रों की रचना की है। भले ही ऋषियों ने मन्त्रों की रचना की हो
भले ही यास्क जैसे कुछ वुद्धिमान् इस वात को स्वीकार करते रहे हों पर जैमिनि और वादर
क मत इस वात में सर्वथा भिन्न है। जैमिनि के विचार से वेद किसी ने नहीं वनाये। जैमि
अपनी वात का समर्थन करने के लिए सारी परम्परा को ही उलट दिया। जै
के समय में लोग यह मानते थे कि वेद के रचयिता ऋषि ही है। पूर्वपक्ष के रूप में उ
इसका यों उल्लेख किया है —

वेदाश्चैके सन्निकर्ष पुरुषाख्या। (पू० मी० १।१।१७)

सूत्र का भावार्थ—'वाल्मीकीय' रामायण शब्द में वाल्मीकीय का अर्थ है वाल्
की वनायी हुई (रामायण)। इसी तरह वैदिक ग्रंथों के साथ काण्व, शौनकीय,
मीय, काठक, तैत्तिरीय आदि शब्द जुड़े दिखायी पडते है जिनका अर्थ है कण्व, श
कीयुम, कठ, और तित्तिर की कृति। वैदिक ग्रंथों के साथ इस तरह के अ

नाम जुडे है जिनसे पता चलता है कि उनकी रचना, सकलन और सम्पादन उन-उन ऋषियों के द्वारा हुआ है ।

जैमिनि को यह मत पसन्द नहीं है । उन्होंने साफ-साफ कहा—

आख्या प्रवचनात् ।। (पू० मी० १।१।३०)

वैदिक ग्रंथों के साथ जो उनके नाम जुडे है उनका इतना ही अभिप्राय है कि उन-उन ऋषियों ने उन-उन ग्रंथों (या मत्रो) का प्रवचन किया—दूसरो को सिखाया और पढाया, उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उन-उन मत्रो और ग्रंथोंकी रचना भी उन्होंने की । इस तरह वेदोंको किसी की रचना न मान कर जैमिनि ने जिनकी प्रतिभा से मन्त्रों का उदय हुआ तथा वेदों का सकलन एवं सम्पादन हुआ उन ऋषियों के यश पर प्रहार किया तथा उन्हें कोरा तोते के समान वेदों को रट-रट कर दूसरों को रटा देने वाला बताकर ठीक उन श्रोत्रियो (=वेद-पाठको) के समकक्ष बना दिया जिनका उपहास करते एक कवि ने कहा है—

"राजमाषनिभैर्दन्तै कटिविन्यस्तपाणय ।
द्वारि तिष्ठन्ति राजेन्द्र छान्दसा श्लोकशत्रव ।।"

(राजन् ! द्वार पर श्लोक के शत्रु वेदपाठी कमर पर हाथ रखे दांत—राज-माष के समान दात—निपोरे खडे है ।)

वेदों को किसी की रचना न मानने के सिद्धात का नाम ही अपौरुषेयवाद है। यद्यपि किसी भी बुद्धिमान् की समझ में इस बात का आना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो सकता है पर उस पूर्व युग में इस ढग की वार्ता का होना कुछ भी अचरज की बात नहीं थी। इस तरह की असम्भव और अनहोनी बातों का बखान करने में जैमिनि और उनके अनुयायियों को कुछ भी सकोच नहीं हुआ और वे यही समझते रहे कि इस अपौरुषेयवाद के सिद्धांत का आविष्कार कर उन्होंने नाम कमाया है—यश पिया है (यश पीतम्) । एक परवर्ती तार्किक जयन्त भट्ट ने क्षुब्ध होकर मीमासको के प्रति कहा ' हां, आप लोगों ने यश जरूर पिया है ! आप लोग चाह यश पियें, चाहे दूध पियें, और चाहे अपनी बुद्धि की जडता दूर करने को ब्राह्मी घृत पियें पर इस बात पर सदेह करने की गुजाइश नहीं है कि वेद की रचना किसी न किसी पुरुष के द्वारा हुई है। भले ही उसकी रचना में कुछ विलक्षणता हो पर विलक्षणता के बल पर यह कह देना कि उसकी रचना किसी ने की ही नहीं, यह तो बिल्कुल नयी सूझ है —

"मीमासका यश पिबन्तु पयो वा पिबन्तु बुद्धिजाड्यापनयनाय ब्राह्मीघृत वा पिबन्तु । वेदस्तु पुरुषप्रणीत एव नात्र भ्रान्ति । .. .. वैचित्र्यमात्रेण वेदे कर्त्रभावो रूपादेव प्रतीयते इति नूतनेय वाचो युक्ति ।"

—न्यायमञ्जरी, आह्निक ४.

अपौरुषेयवाद के सिद्धात का सहारा लेकर 'वेद नित्य है' का सिद्धात भी उठ खडा हुआ। जिनके मत में वेद किसी की रचना नहीं, उनके मत से वेद को नित्य

होना ही चाहिए। पर वेद की नित्यता केवल यह कहकर नहीं सिद्ध की गयी "चूंकि वेदो की रचना करने वाला कोई नहीं है इसलिए वे नित्य है," किन्तु उनकी नित्यता सिद्ध करने के लिए शब्द (=वर्ण) मात्र को मीमासको ने नित्य माना। यहां शब्द (=वर्ण) की नित्यता आदि के झझट में फसना ठीक न होगा पर यदि उन्हें नित्य मान लिया जाय, उन्हें ही नहीं वर्णों से बने पदों तक को भी नित्य मान लिया जाय तो भी वाक्यो की नित्यता सिद्ध करना कठिन कार्य है। वेद के वर्ण, पद और वाक्यों को नित्य मानना पर अश्वघोष और कालिदास के ग्रथो में उन्हें अनित्य मानना सचमुच निराली सूझ है। शाब्दिक नित्यवाद को इस जगह छेड़ना ठीक न होगा। यहा उसका उल्लेख कर देने का केवल इतना ही प्रयोजन है कि इस वाद का अपौरुषेयवाद से बहुत सबध है। इन दोनों वादो का जैमिनि ने प्रतिपादन किया है। बादरायण को भी जैमिनि से विरोध नहीं है। देवताधिकरण में बादरायण ने साफ-साफ वैदिक नित्यत्ववाद का प्रतिपादन किया है। वेद की नित्यता और उसकी अपौरुषेयता द्वारा जैमिनि और उनके अनुयायियों ने भले ही वेद के प्रति लोगों की श्रद्धा को न डिगने दिया हो पर वादों द्वारा साधारण जनता को ही नहीं बुद्धिमानो की बुद्धि पर पोथी-भार लाद कर बुद्धि के विकास को जरूर कुठित किया। यदि वेदो के प्रति यह धारणा बनी रहती कि वे पूर्वयुग के पुरुषो की रचनाएं है और वे भी हमारे जैसे ही थे, उनमें भी सब गुण ही गुण न थे; तो कदाचित् वेद के अनुयायियों को बहुत विचार-स्वतन्त्रता रहती और वेद की बातों को मानने या न मानने में उन्हें कोई मजबूर न कर सकता। जैमिनि के पहले इतनी मजबूरी थी भी नहीं। वेद के वचनों को लोग ऋषियों की कृति मानते थे और वेद की आज्ञा को राजाज्ञा के समान मानने को तैयार न थे। उनमें उस समय इतनी हिम्मत थी कि वे कह सकें कि मन्त्रो की रचना में कितनी जगह अर्थ स्पष्ट नहीं है, कितनी ही जगह विरोध है —

"अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति .. ...अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति।"

—निरुक्त, अध्याय १ खड १५

वेदो के सबध में यह और इस तरह की आलोचनाओ से सबध रखनेवाले दूसरे विचार यास्क ने अपने निरुक्त में सकलित किये है। जैमिनि ने भी इस तरह के विचारों को पूर्वपक्ष के रूप में रखकर उन्हें मरने से बचाया है। वे विचार इतना तो प्रकट कर ही देते है कि वेद को कितने लोग अपौरुषेय या नित्य न मानकर प्राचीन ऋषियो की रचना मानते थे और उस रचना में उन्हें बहुत से दोष भी दिखलाई पडते थे।

विचार स्वतन्त्रता की हत्या जैमिनी ने वेदो को अपौरुषेय और नित्य सिद्ध करके की, पर वे लोग जो किसी भी आगम को नित्य और अपौरुषेय नहीं मानते थे दूसरे तरीके से वही बात करने में न चूके। जैमिनि का ख्याल था कि जो अपौरुषेय एव नित्य है वही निर्भ्रान्त है, उसमें किसी भूल-चूक की गुजाइश नहीं। अक्षपाद और कणाद के अनुयायियो को यह बात न जची। उन्होंने सोचा कि अपौरुषेयता और नित्यता को तर्क और बुद्धि से सिद्ध करना कठिन है, इसलिए

वेदों का रचयिता तो कोई-न-कोई होना चाहिए और उन्होने ईश्वर को वेद का रचयिता माना। उनके ख्याल से ईश्वर का ज्ञान पूर्ण और नित्य है, इसलिए यदि वेदों को उसकी रचना मान लिया जाय तो वेदों की प्रामाणिकता भी सिद्ध होगी और वेदो में कोई भूल-चूक भी न निकाल सकेगा। यद्यपि भूल-चूक निकालने वाले लोग सदा बने ही रहते हैं। वे केवल इतने भर से चुपचाप नहीं बैठ सकते कि वेद अपौरुषेय है या वेद किसी सर्वज्ञ एव निर्भ्रान्त पुरुष अथवा ईश्वर की रचना है। अक्षपाद ने इस प्रकार के मत को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया है। उसमें कहा गया है कि वेद की बातें सच्ची नहीं उतरतीं। पुत्र-उत्पत्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ करना चाहिए यह वेद की आज्ञा है पर पुत्रेष्टि यज्ञ करने वालो को भी बहुत करके पुत्र नसीब नहीं होता। यह बात वेद को झूठा साबित करती है। —उसमें अनृत—दोष है, इस बात को प्रकट करती है। अक्षपाद ने इस बात को यह कहकर उडा दिया है कि पुत्रेष्टि यज्ञ करने में कुछ गडबडी हो जाने के कारण यदि पुत्र नहीं हुआ तो उसमें ठीक-ठीक यज्ञ न करने वालों का दोष है। इससे वेद की सचाई पर कुछ भी धब्बा नहीं लगता। (विस्तार के लिए देखिए—न्यायसूत्र, अध्याय २ आह्निक १ सूत्र ५८—६१)।

जिन लोगों ने ईश्वर को आगमों का प्रवर्तक न मान मनुष्यो को ही उनका प्रवर्तक माना उन्होंने भी विचार-स्वतन्त्रता पर कम आक्रमण नहीं किया। साख्य सम्प्रदाय में कपिल को आप्त या यथार्थज्ञ माना। जो बात कपिल ने कही, वही प्रामाणिक है दूसरी नहीं। कपिल के अनुयायियो ने कपिल को लोकोत्तर स्थान पर बिठाया तो, पर वे वेद के विरोध में कुछ भी बोलने को तैयार न थे। फलत उन्होंने यह भी कहा कि कपिल का उपदेश सर्वथा वेदानुकूल है। इस तरह कपिल को वेदानुकूल बताकर उन्होंने कपिल की बुद्धि का अपमान किया। परम्परा में कपिल को आदि विद्वान् कहा जाता है, पर उनके अनुयायियों को कपिल की विद्वत्ता वेद के उच्छिष्ट भोजन से अधिक नहीं जची। कपिल को एक स्वतन्त्र विचारक न मानकर उनको वेद की बातो को दुहरानेवाला बताने पर भी वेद के कट्टर अनुयायियों द्वारा वे कपिल को वैदिक न सिद्ध करा सके। बादरायण ने अपने सूत्रों में अनेक स्थानों पर साफ-साफ कपिल के मत को वेद-विरोधी बताया। जो भी हो, इतना तो कहा जा सकता है कि साख्य वालो ने एक बार हिम्मत कर अपौरुषेयता और ईश्वरीयता के पचडे से अपने को निकाला, भले ही वैदिकता का ममत्व उनसे नहीं छूटा।

विचार-स्वतन्त्रता में बौद्ध और जैन वैदिको से कुछ बढे हुए थे। कुछ, इसलिए कि उन्होने वेद और ईश्वर से छुटकारा तो जरूर पा लिया, पर अपने-अपने धर्मप्रवर्तक के वचनों को उसी तरह प्रमाण माना जिस तरह वैदिकों ने वेद को। फलत उनकी मानसिक दासता पूरे तौर पर दूर न हो पायी। वे एक बधन से छूटे पर दूसरे में बधे। यहा संक्षेप से यह देखना है कि जैनों और बौद्धो का अपने शास्ता के प्रति क्या झुकाव है।

जैन लोग आरम्भ से ही अपने धर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर को सर्वज्ञ मानते थे। 'अचाराग सूत्र' में कहा है —

"से...जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी"

वे केवली जिन सर्वज्ञ और सब पदार्थों के द्रष्टा हैं। 'आवश्यक निरुक्ति' में कहा है —

"तं नत्थि ज न पासइ भूय भव्व भविस्स च"। (गाथा १२७)

भूत, भविष्यत् और वर्तमान की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसे वे नहीं जानते ।

बौद्ध साहित्य से भी वर्धमान महावीर के सर्वज्ञ होने की प्रसिद्धि पर प्रकाश पडता है। 'मज्झिमनिकाय' के 'चूलदुक्खक्खन्धसुत्त' (सूत्र १४) में कहा गया है कि "निगण्ठ नायपुत्त (=जैन तीर्थंकर महावीर) सर्वज्ञ" (हैं)। 'सन्दकसुत्त' (७६) में यही बात मजाक के साथ दुहरायी गयी है। "एक शास्ता सर्वज्ञ......होने का दावा करते हैं .वह सूने घर में जाते हैं, (जहा) भिक्षा भी नहीं पाते, कूकुर भी काट खाता है। ..(सर्वज्ञ होने पर भी) ...गाव-कस्बे का नाम और रास्ता पूछते हैं।"

बौद्ध लोग बुद्ध को सर्वज्ञ मानते हैं। यद्यपि त्रिपिटक में कुछ उल्लेख ऐसे भी हैं जिनमें बुद्ध ने अपनी सर्वज्ञता से इन्कार किया है। 'तेविज्ज वच्छगोत्त सुत्त' (मज्झिमनिकाय सूत्र ७१) में बुद्ध ने कहा है. "जो कोई मुझे ऐसा कहते हैं—श्रमण गौतम सर्वज्ञ है।'... (वे) असत्य (–अभूत) से मेरी निन्दा करते हैं।" पर इतने उल्लेख भर से बुद्ध की सर्वज्ञता से इनकार नहीं किया जा सकता और किया भी कैसे जाय? सर्वज्ञता के सूचक वचन तो जा-वजा त्रिपिटक में भरे पड़े हैं। नागसेन ने अपने 'मिलिन्दपञ्ह' में बुद्ध को सर्वज्ञ बताया है—" ..बुद्ध सर्वज्ञ थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे हर घटी हर तरह से ससार की सभी बातों की जानकारी बनाये रखते थे। उनकी सर्वज्ञता इसी में थी कि ध्यान करके वे किसी भी बात को जान ले सकते थे।" (हिन्दी मिलिन्द प्रश्न पृ० १२९)। जिस तरह की बात नागसेन ने कही है वैसी ही बात 'कण्णत्थलकसुत्त' (मज्झिमनिकाय सूत्र ९०) में कही गयी है, "ऐसा श्रमण-ब्राह्मण नहीं जो एक ही बार सब जानेगा। यह सभव नहीं।" एक बार में न सही, पर जब जो कुछ जानना जरूरी हो, तब उसको जान लेना बुद्ध के लिए सभव है। इस तरह तीर्थंकर की सर्वज्ञता और बुद्ध की सर्वज्ञता में कुछ भेद रह गया। तीर्थंकर सदा सब कुछ देखते रहते हैं और बुद्ध जब जिसकी जरूरत पडती है तब देख या जान लेते हैं। शातरक्षित ने और 'तत्त्वसग्रह' में इस बात को दोहराया है —

"यद्यदिच्छति बोद्धु वा तत्तद्वेत्ति नियोगत ।
शक्तिरेवविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ ॥"

समाधि द्वारा वे जिस बात को जानना चाहते हैं जान लेते हैं । उनकी शक्ति ऐसी ही है। उनका आवरण (=अज्ञान) दूर हो चुका है।

बुद्ध को सर्वज्ञ मानते हुए भी बौद्धों ने सर्वज्ञता पर जोर नहीं दिया है। सर्वज्ञता की अपेक्षा धर्मज्ञता पर ही जोर दिया गया है। धर्मकीर्ति ने 'प्रमाण-वार्तिक' में कहा है कि बुद्ध को बौद्ध इसलिए प्रमाण मानते हैं कि वे उपायसहित हेय और उपादेय तत्त्वो को वतलाते हैं। इसलिए नहीं कि वे सब कुछ जानते हैं——

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदक ।
य. प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदक ॥

भारतीय दर्शन की बौद्ध और जैन शाखा ही नहीं दूसरी शाखायें भी इस सर्वज्ञतावाद से अछूती नहीं बची है। मीमासा के दूसरे सूत्र "चोदनालक्षण-ऽर्थो धर्म" पर शबर ने कहा है कि वेद के विधिवाक्यों (–चोदना) में भूत, भविष्यत् सूक्ष्म, व्यवहित अर्थात् छिपे हुए और दूर पर विद्यमान सब तरह के अर्थों का ज्ञान कराने की शक्ति है ——

"चोदना हि भूत भविष्यन्त सूक्ष्म व्यवहितं
विप्रकृष्टमित्येव जातीयकमर्थ शक्नोत्यवगमयितुम् ॥"

सीधा अभिप्राय यह कि वेद सर्वज्ञ हैं। वादरायण के ब्रह्म की सर्वज्ञ-वादिता में सन्देह का अवकाश नहीं, उनके ब्रह्म को सर्वज्ञ ही नहीं और भी बहुत कुछ कहा जाता है। "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" (ब्रह्मसूत्र २–१–३७) ब्रह्म में सभी धर्मों का सामजस्य है। शकर ने खोल कर इस सूत्र के भाव को समझाया है ——

"ब्रह्मणि..... सर्वे.....धर्मा उपपद्यन्ते 'सर्वज्ञ सर्वशक्ति महामाय च ब्रह्म' इति।"

ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति स्वरूप है, उसकी माया महान् है, उसमें सब धर्मों का समन्वय हो जाता है।

कणाद ने योगियों में सब कुछ जान लेने की शक्ति मानी है। उन्होंने कहा है कि आत्मा और मन के सयोग-विशेष से (समाधि से) आत्मा का ज्ञान होता है तथा अन्य द्रव्यो का भी। सरल शब्दों में कहें तो भाव यह है कि योगी समाधि द्वारा सब कुछ जान लेते हैं ——

आत्मन्यात्ममनसो सयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् । तथा द्रव्यान्तरेषु । (वैशेषिक सूत्र ९।१।११, १२)

कणाद के मूल सूत्रों में ईश्वर का पता नहीं है। पर वाद में कणाद के अनुयायियो ने आत्मा के दो भेद किये ——जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा या ईश्वर में उन्होने सर्वज्ञता मानी तथा उसे वेद का कर्ता वताया। 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वैशेषिक सूत्र १–१–१) का अक्षरार्थ इतना ही जान पडता है कि आम्नाय या वेद इसलिए प्रमाण है कि उसमें तद्वचन (=धर्म का कथन) है। सूत्रों के क्रम को देखने से 'तत्' शब्द से धर्म का ही बोध होता है। 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम'॥१–१–१॥'यतोऽभ्युदयनिश्रेयस सिद्धि· स धर्म'॥१–१–२॥'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' ॥१–१–२॥ इनमें पहले सूत्र में कहा है कि अब हम धर्म की व्याख्या करेंगे। दूसरे में कहा है अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति जिससे

होती है वह धर्म है। तीसरे में कहा है कि तद्वचन या धर्म का कथन चूंकि वेदों में है इसलिए वे प्रमाण है। पर प्रशस्तपाद ने तद्वचन का भाव 'ईश्वरचोदनाभिव्यक्ते' बताया है। शंकर मिश्र ने 'उपस्कार' में स्पष्ट ही कहा है कि वेद की प्रमाणता इसलिए है कि वे ईश्वर की रचना है—

"तेनेश्वरेण प्रणयनाद् वेदस्य प्रामाण्यम् ॥"

अक्षपाद ने शब्द-प्रमाण की व्याख्या करते हुए कहा है कि शब्द-प्रमाण आप्त या पहुँचे हुए लोगों के उपदेश है जिनमें दृष्ट और अदृष्ट दोनों का वर्णन है। "आप्तोपदेशः शब्दः । स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्॥" (न्याय सूत्र अध्याय १ आह्निक १)। दृष्ट और अदृष्ट जो दोनों ही जानते है उनकी सर्वज्ञता में संदेह की गुंजायश नहीं हो सकती। वैशेषिक सूत्रों की तरह न्याय सूत्रों में भी स्पष्टतया न तो ईश्वर को वेद का कर्ता कहा गया है और न उसकी सर्वज्ञता कहीं बतायी गयी, पर यह बात बाद में अक्षपाद के अनुयायियों ने कर ली है। (विस्तार के लिए देखिए—'न्यायमंजरी', शब्द-प्रमाण प्रकरण)।

योगदर्शनकार पतंजलि योगियों में सर्वज्ञता मानते है योगियों को संयम के बल से अन्तिम भूमि में जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे तारक कहते है। वह सब विषयों तथा विषयों की सब-सब अवस्थाओं का ज्ञान है जिसके लिए किसी क्रम की जरूरत नहीं, योगी एक बार में ही करतलामलकवत् जान लेता है—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्। (योगसूत्र ३-५४)

ईश्वर के बारे में कहा है कि उसमें सर्वज्ञता का बीज है और वह बीज उसमें निरतिशय या पराकाष्ठा को प्राप्त है। वह काल के बन्धन में नहीं है, वह पुराने ऋषियों का गुरु है—

तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम् [स] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥ (योगसूत्र १-२५, २६)

कपिल के मत में आप्तवचन द्वारा ही परोक्ष ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। प्रत्यक्ष की जहां पहुँच नहीं है वहां अनुमान पहुँच सकता है पर जहां अनुमान की भी पहुँच नहीं वहां आप्त-वचन या ऋषिप्रणीत आगम के द्वारा ही ज्ञान होता है—

"तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्॥" (सांख्यकारिका ६)

आप्त या पहुँचे हुए पुरुषों के वचनों पर जहां इतनी आस्था है वहां उनकी सर्वज्ञता के बारे में ननु-नच करने की अपेक्षा ही नहीं। कपिल के अपने वचन आज हमारे पास नहीं है, इसलिए सर्वज्ञतावाद पर उनका निजी विचार क्या था, हम कुछ नहीं कह सकते। ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिकाओं से इतना पता चलता है कि वे आप्त पुरुषों की सर्वज्ञता पर भले ही विश्वास करते हों और आप्त वचन होने के कारण भले ही वेदों को प्रमाण मानते हों पर ईश्वरवाद के समर्थक न थे। पर बाद में कपिल पर ईश्वरवाद भी लादा गया तथा मीमांसकों का

अपौरुषेयवाद भी। ईश्वरवाद तो लदते-लदते बच गया, पर पता नहीं कि कपिल के किस दुरदृष्ट से किसी ने 'सांख्य प्रवचनसूत्र' गढ कर कपिल के मुंह से ही कहलवा दिया कि वेद अपौरुषेय हैं क्योंकि उनके रचयिता पुरुष का पता नहीं —

न पौरुषेयत्व तत्कर्तु पुरुषस्याभावत्। (सांख्यप्रवचनसूत्र २।४६)

जो भी हो, हमने ऊपर देखा है कि भारत की प्राय सभी दार्शनिक शाखाओं में सर्वज्ञतावाद ओतप्रोत है। सर्वज्ञतावाद का जामा पहनकर ही वे सभी वाद जिनका हमने आरम्भ में ही सकलन कर दिया है अपनी-अपनी बात सुनाते है। खासकर अदृष्ट जगत् को सिद्ध करने के लिए सबको सर्वज्ञतावाद की जरूरत थी। यह सर्वज्ञतावाद चाहे वेद के साथ जोडा जाय, या ब्रह्म के साथ, अथवा ईश्वर के साथ, किंवा वर्धमान महावीर, बुद्ध, कपिल, कणाद, अक्षपाद, पतजलि अथवा दूसरे ऋषि-मुनियों के साथ, सबका अभिप्राय है ' 'दृष्ट जगत् पर अदृष्ट के बोझ को लादना।' अदृष्ट के भार को जनता के माथे लाद उसे दृष्ट जगत् के प्रति उदासीन बनाने में भारतीय दर्शनों ने कोई कोर-कसर न उठा रखी। दार्शनिक स्वय भी दृष्ट जगत् के विषय में सचेत न थे। दृष्ट जगत् विषयक उनका अज्ञान आज उतना ही रोचक है जितना कि कोई ऐन्द्रजालिक उपन्यास। इस धरती पर रहते हुए उन्होंने धरती का जो वर्णन किया है उस पर आज शायद ही कोई विश्वास करे। पर उन्होंने जो दूसरे अदृष्ट जगत् का बखान किया है उससे आज भी लोग मोहित हैं। इस पराधीन वृत्ति में भी जो अभूतपूर्व बात हुई है, वह है जनता में सुभाषितों के प्रति अनुराग की भावना का जागरण। यदि यह सहज भावना न होती तो नाना धर्मपन्थ के प्रवर्तकों की कथा कोई न सुनता। धार्मिकों के द्वारा जनता का शोषण इस भावना के कारण हुआ है। पर इस शोष्य-शोषण भाव के होते हुए भी दूसरा भाव भी रहा है। जनता को सीखने का बहुत-कुछ अवसर मिला है तथा इस प्रकार की शिक्षा देने वालों को अर्थ के अतिरिक्त अभूतपूर्व सम्मान मिला है।

§§३. बौद्ध धर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश और विकास

बौद्धधर्म में मनुष्य के व्यक्तिगत विकास और मुक्ति के लिए तीन शुद्धियों पर जोर दिया गया है। पहली है "शीलविशुद्धि" जिसके लिए बुद्ध ने कायिक और वाचिक सदाचारो का प्रतिपादन किया है। कायिक सदाचारों में काममिथ्याचार से विरत रहने पर बहुत जोर दिया है। बुद्ध के समय और उससे पहले भारत में यौन-सदाचार का भाव बहुत ही शिथिल था। अध्यात्मवादी ऋषि-मुनि भी यौन सबध में कोई दोष न समझते थे। इस विषय के उदाहरण इतिहास और पुराणो में भरे पडे हैं। जिनमें तपस्वी ऋषियो के यौन-सबध का वर्णन है और उस यौन-सबध के कारण उन्हें पतित नहीं कहा गया। यद्यपि आज के समाज में उस प्रकार यौन-सबध करने वाले को समाज में मुह दिखाना भी कठिन हो सकता है। छान्दोग्योपनिषद् में सामोपासना को मिथुन-भाव पर घटाते हुए कहा है उपमन्त्रण१

हिकार है, ज्ञापन २ प्रस्ताव है, स्त्री के साथ शयन उद्गीथ है, स्त्री के साथ अभिमुख शयन प्रस्ताव है, (द्वय-समापत्ति) में जो समय जाता है और उसका जो पार होना है वह निधन है। यह वामदेव्य (साम) मिथुन में ओतप्रोत है। मिथुन में ओत-प्रोत इस वामदेव्य (साम) को जो जानता है वह मिथुनीभाव से रहता है, पूर्णायुष्य को प्राप्त करता है, उज्ज्वल जीवन बिताता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। उसका व्रत है कि "न काचन परिहरेत्।" शकराचार्य के शब्दों में इसका अर्थ है "न काचन कामयमाना परित्यजेत्"। वामदेव्य साम का उपासक ब्रह्मचर्य के विषय में कितना शिथिल है यह इतने से खूब स्पष्ट है। बुद्ध के समय यौन-सबध की किस बेहूदगी से चर्चा होती थी इसका पता हमें विनयपिटक में षड्वर्गीय भिक्षु और भिक्षुणियों के वृत्तान्त से अच्छी तरह मिल जाता है। बुद्ध के पहले के समय में तो इस प्रकार का फूहडपन अपनी सीमा को पार कर गया था। ऋग्वेद में इन्द्र का रोमशा ब्रह्मवादिनी के साथ सवाद हुआ है। उस सवाद को हिन्दी अनुवाद के द्वारा बढ़ाना बहुत ठीक बात नहीं है। (देखिए—बृहद्देवता अध्याय ४। ऋग्वेद १।१२६।७)

इतने से हमें इस बात का पता पूरे तौर पर चल जाता है कि बुद्ध के समय और उससे पहले यौन-सबध की किस तरह खुल्लमखुल्ला चर्चा होती थी और वामदेव्य साम के उपासक जैसे धार्मिक लोग भी थे जिनके धर्म में यौन-सबध का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसके साथ बुद्ध ने जो काममिथ्याचार से विरति और ब्रह्मचर्य पर इतना जोर दिया उसका कारण भी समझ में आ जाता है। सचमुच यदि उस काल में यह पशुधर्म इतने जोरों से फैला न होता तो शायद बुद्ध को एतत्सबधी सदाचार पर बहुत जोर न देना पड़ता। इसके अतिरिक्त उस समय मद्य और मास का भी खूब रिवाज था। भोजन के लिए और यज्ञ के लिए पशुओं का वध होता था। धर्म में भी मदिरा का स्थान था। सौत्रामणि जैसे यज्ञों में खुल्लम-खुल्ला मदिरा का उपयोग होता था। बुद्ध ने अपने अनुयायियों को प्राणिवध एव मद्यपान से विरत रहने का उपदेश दिया। साथ ही साथ स्वार्थवश युद्ध और लडाई झगडे से जो खूनखराबी होती थी उससे भी विरत रहने पर बहुत जोर दिया।

दूसरी शुद्धि जिसका बुद्ध ने प्रतिपादन किया है वह है "चित्तविशुद्धि"। इसके लिए बुद्ध ने समाधि भावना का उपदेश दिया जो बुद्धयुग के लिए नयी बात न थी। बुद्ध से पहले श्रमण और ब्राह्मण समाधि भावना का अभ्यास आत्मसाक्षात्कार के लिए करते थे। आत्मसाक्षात्कार के अतिरिक्त विविध प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति के लिए भी समाधि भावना का अभ्यास किया जाता था। इन ध्यान में लीन श्रमणों के उपदेश को लोग सादर सुनते थे और उनकी पूजा करते थे। धनी राजाओं और श्रेष्ठियों की अपेक्षा इन अकिंचन तपस्वियों का बहुत मान था। धनी से लेकर गरीब तक, पडितों से लेकर मूर्ख तक, सभी उन्हें पूजते थे। तैत्तिरीयारण्यक में वातरशन श्रमण ऋषियों का यों जिक्र है :—"वातरशन ऋषि श्रमण

२ उपमन्त्रण=सकेत करना, ज्ञापन=धनादि से सतुष्ट करना।

और ऊर्ध्वरेतस् थे। कुछ दूसरे ऋषि मतलब से उनके पास आये (अर्थमायन्)। वे वातरशन ऋषि कूष्मांड मन्त्रों में छिप रहे। दूसरे ऋषियों ने श्रद्धा और तप से उन्हें जान लिया और उनसे कहा। क्यों छिप रहे हो? वे बोले भगवन्, तुम्हें नमस्कार हो, इस जगह किस चीज से खातिर करू। ऋषियों ने उनसे कहा, जिससे हम पाप से परे हो सकें वैसा उपदेश दें। तब उन्होंने इन सूक्तों को देखा (और उन्हें उपदेश दिया)। प्रपाठक ३, अनुवाक ७।" बुद्ध के समय तो अनेक श्रमण ब्राह्मण थे जिनका जनता पर बहुत प्रभाव था और समाधि सबधी चर्चा सब जगह खूब होती थी। कुरुदेश में एतत्सबधी चर्चा बहुत साधारण बात थी। सतिपट्ठानसुत्त की अट्ठकथा में जिक्र है कि वहा "दास और कर्मकर नौकर-चाकर भी स्मृत्युस्थान सबधी कथा ही को कहते हैं। पनघट और सूत कातने के स्थान आदि में भी व्यर्थ की बात नहीं होती। यदि कोई स्त्री अम्म! तू किस स्मृत्युस्थान की भावना करती है? पूछने पर नहीं बोलती है तो उसको धिक्कारते हैं—धिक्कार है तेरी जिंदगी को, तू जीती भी मुर्दे के समान है। फिर उसे कोई एक स्मृत्युस्थान सिखलाते हैं।" बहुत स्पष्ट है कि बुद्धयुग में समाधि भावना की चर्चा आरण्यक श्रमणों और ब्राह्मणों में ही नहीं जनसाधारण के बीच में भी खूब हुआ करती थी।

तीसरी शुद्धि जिसका बुद्ध ने प्रतिपादन किया है वह है "दृष्टि विशुद्धि"। दृष्टिविशुद्धि के लिए बुद्ध ने विश्व को पांच स्कन्धों में विभक्त करके प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा उन्हें अनित्य अर्थात् परिवर्तनशील बताया। इसी सिद्धांत के सहारे बौद्ध दार्शनिकों ने क्षणिकवाद अर्थात् "यत् सत् तत् क्षणिकम्" के सिद्धात का प्रतिपादन किया। इसी सिद्धात के सहारे नागार्जुन ने सापेक्षतावाद अर्थात् "किसी पदार्थ की स्वाभाविक सत्ता है ही नहीं" के सिद्धात का प्रतिपादन किया। इसे ही शून्यवाद कहा जाता है। बाद में नागार्जुन के इस सिद्धात से प्रभावित होकर असंग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद का विकास किया। बाह्य जगत् को मिथ्या या असत् मानकर विज्ञान स्कन्ध के परिणाम द्वारा विश्व के विकास को बताना विज्ञानवाद है। आगे चलकर हम देखेंगे कि तान्त्रिक प्रवृत्तियों के समर्थन में इन दार्शनिकवादो का बहुत बडा हाथ है।

इन तीन प्रकार की शुद्धियो को स्वीकार करते हुए महायान ने कुछ अन्य आदर्शों का प्रचार किया जिनके बारे में हीनयानी लोग तटस्थ से थे। इन्होंने बोधिसत्वों की चर्या को अपना आदर्श माना और स्पष्ट रूप से घोषणा की —

"मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागरा।
तैरेव ननु पर्याप्त मोक्षेणारसिकेन किम्॥" (बोधिचर्यावतार)

दूसरे प्राणियों को दुख से छुडाने में जो आनन्द मिलता है वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें लेना-देना ही क्या? एव अपने लिए मोक्ष को ठुकरा कर प्राणिमात्र के मोक्ष के लिए यत्न करने का व्रत लेने की

लहर चली और इसने जनता के हृदयों को बहुत कोमल और दु ख-सहिष्णु बना दिया। भारत की आज भी साधारण मनोवृत्ति दु ख सह लेने की है, दूसरों को दु ख देने की नहीं।

बोधिसत्त्वो की चर्या के मर्मस्थान का शिक्षासमुच्चय में यों जिक्र है :—

"आत्मभावस्य भोगाना त्र्यध्ववृत्ते शुभस्य च
उत्सर्ग. सर्व सत्त्वेभ्यस्तद्रक्षाशुद्धिवर्धनम् ।"

सम्पूर्ण प्राणियों के हित के लिए अपने आत्मभाव (मनोवचन सहित शरीर) अपनी भोग सामग्री और अपने पुण्य का उत्सर्ग कर देना चाहिए और उत्सर्ग के लिए ही उनकी रक्षा, शुद्धि और वृद्धि करनी चाहिए।

आत्मभाव की शुद्धि तो उन तीन विशुद्धियों से हो सकती है जिनका कि ऊपर जिक्र हो चुका है। पर रक्षा और वृद्धि उनसे नहीं हो सकती। शरीर-रक्षा के लिए महायान में भौतिक साधन बहुत ही विरल हैं। केवल भोजन और वस्त्र से शरीर रक्षा का विधान है पर भोजन हीनयानियों का भोजन नहीं है जिनमें मत्स्य और मांस का सेवन बुरा नही समझा जाता। बोधिसत्त्वव्रतियो के भाग्य में भैषज्य (कन्द, मूल-फल अन्न आदि) ही भोजन का काम दे सकती है और भैषज्य का सेवन भी वितृष्ण होकर करना होगा नहीं तो पाप से बचा नहीं जा सकता। इसीलिए शिक्षा-समुच्चय में कहा है —

"एषा रक्षात्मभावस्य भैषज्यवसनादिभि. ।
आत्मतृष्णोपभोगात्तु क्लिष्टापत्ति प्रजायते ।।"

इतने मात्र भौतिक साधन से मनुष्य जी तो जरूर सकता है पर वितृष्ण होकर शाक-पात के भरोसे आत्मभाव की वृद्धि नहीं हो सकती फिर भी भौतिक साधनों के अभाव में आध्यात्मिक साधनों से तपस्वी लोग आत्मभाव की वृद्धि करते थे और उन आध्यात्मिक साधनो में जहा एक ओर शील और समाधि भावनाओं का स्थान था वहा दूसरी ओर अनेक प्रकार के मन्त्र-तन्त्रो का भी। सो मन्त्र-तन्त्रो का बुद्ध के वचनों में समावेश हुआ और हुआ महायान सूत्रो का सहारा लेकर। बाद में सभी प्रकार की रक्षा और वृद्धि के निमित्त नाना प्रकार के मन्त्र-तन्त्र चल पडे और उनके सहारे लोग अपने भौतिक सुख की रक्षा और वृद्धि का यत्न करने लगे।

मन्त्रों के साथ किसी न किसी देवता का सबध जुडा रहता है। वे मन्त्र चाहे वैदिक हों और चाहे तान्त्रिक हों—देवता सबध से अलग नहीं रह सकते। हां, इतना जरूर है कि वैदिक देवताओ का जहां बहुत कुछ भौतिक अस्तित्व है वहा तान्त्रिक देवताओं के भौतिक अस्तित्व का हमें पता ही नहीं, हा, उनका औपासनिक महत्त्व है और उनकी सत्ता अध्यात्म में ढूंढ़ी जा सकती है। वैदिक ऋषि प्रात काल देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं और मारे हर्ष के उछल पडते हैं और बोलते हैं "चित्रं देवानामुदगादनीकं . . .सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजुर्वेद ७।४२)। आश्चर्य! देवताओं की सेना उग आई ..स्थावर और जगम जगत् का आत्मा सूर्य उग

आया। बृहद्देवता के प्रथम अध्याय में वैदिक देवताओ के मर्मस्थल की ओर यों संकेत किया है :–

> "भवद्भूत भविष्यच्च जगम स्थावर च यत् ।
> अस्यैके सूर्यमेवैक प्रभवं प्रलय विदु ॥
> असतश्च सतश्चैव योनिरेष प्रजापति ।
> कृत्वैव हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति ।
> देवान् यथायथ सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु ॥
> अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च ।
> सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवता ॥"

अतीत, अनागत एव वर्तमान जगम और स्थावर जगत् एकमात्र सूर्य से ही उत्पन्न होता है और उसी में लीन हो जाता है। सत् और असत् सभी की उत्पत्ति इसी प्रजापति से होती है। सब देवताओं को अपनी रश्मियों में सन्निविष्ट कर वह इस त्रिलोकी में अपने को तीन रूप से विभक्त कर स्थित है। यहा तीन ही देवता है । (पृथिवी लोक) में अग्नि, मध्यम लोक में इन्द्र या वायु और द्यौ लोक में सूर्य ।

तान्त्रिक देवताओं का इतनी सरलता से निर्देश नहीं किया जा सकता और न उनका दर्शन ही इतना सुलभ है। निरन्तर ध्यान के द्वारा उनका साक्षात्कार होता है। सच कहें तो वे हमारी मानसिक भावनाओ के ही विकास हैं––मानसिक भावना की तीव्रता के कारण हम भले ही उन्हें मन से बाहर लाकर खडा कर दें और अपनी आखो से देख लें पर मूलत वे हमारे अध्यात्म में स्थित है। उनका भौतिक अस्तित्व तया रूप और आकार का वर्णन सर्वथा साकेतिक एव मन·प्रसूत है।

मन्त्रों के साथ ये देवता लोग नाना नाम-रूप घर कर बौद्ध धर्म में आये और अपनी साधना या उपासना के उन तत्त्वों को भी लाये जो बौद्ध धर्म में पहले न थे। मद्य-मास और मुद्रा (स्त्री) का साधना के उपकरण के रूप में प्रवेश हुआ तया साधकों के लिए बुद्ध की "शील विशुद्धि" का महत्त्व ही न रह गया। भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, गम्यागम्य विचार, साधना के भीतर से चला गया।

पर यह सब हुआ क्यों? इनकी क्या जरूरत पडी? इसके उत्तर में इतना तो जरूर ही कहा जा सकता है कि बुद्ध से पहले यह सब प्रवृत्तिया मौजूद थीं और उन्हें बुरा नहीं समझा जाता था । बुद्ध ने शील एव सदाचार का जो मार्ग दिखाया उसे जनसमाज ने अपनाया तो पर सभी पुरानी बातो को छोड कर उसे शुद्ध रूप में अपनाना शायद लोगो के लिए कठिन था सो बाद में धीरे-धीरे दूसरी प्रवृत्तियों ने बुद्ध के धर्म-विनय में घुसना शुरू किया। भिक्षुओ के लिए जिस कठोर सदाचार का प्रतिपादन बुद्ध ने किया था उसे सहज जीवन नहीं कहा जा सकता और जब चारों ओर के वातावरण में उस कठोर तप की विघातक सामग्री मौजूद हो तब तो उसका टिकना सभव हो ही नहीं सकता और हुआ भी वही। महायान के सहारे तान्त्रिक प्रवृत्तियो ने प्रवेश कर बौद्धधर्म को वज्रयान एव सहजयान में बदला।

भिक्षु लोग भीतर से वज्रयानी, ऊपर से महायानी और लोगों में बात करने के लिए हीनयानी बने रहते थे। उनकी स्थिति बाद के हिन्दू तान्त्रिकों जैसी थी जो—"अन्त शाक्ता बहि शैवा सभामध्ये च वैष्णवा" थे।

प्राग्बुद्धकालीन इन तान्त्रिक प्रवृत्तियों को बुद्ध धर्म में अपना स्थान बनाने में कम समय नहीं लगा और न इन सबने एक साथ ही उसमें प्रवेश किया। प्रत्युत ज्यों-ज्यो समय बीतता गया बुद्ध की शिक्षामात्र से सन्तुष्ट न होने वाले उनके अनुयायी अपने चारों ओर विद्यमान दूसरी-दूसरी साधना के तत्वो को उसमें बुद्ध के नाम से शामिल करते रहे । परित्राण के लिए आटानाटिय रक्षा जैसे सूत्र ईसा से पूर्व ही बौद्धधर्म में आ चुके थे । अनेकों महायान सूक्तो का चीनी भाषा में अनुवाद ईसा की दूसरी शती में ही हो गया था सो उससे पहले कितने ही महायान ग्रथ प्रचारित हो चुके थे और सगायन या लेखन द्वारा सख्या के नियत न होने से बाद में भी उनका निर्माण होता रहा। और उनमें मन्त्रो एव धारणियो के समावेश के साथ-साथ छिपे-छिपे मुद्रा और मडल बनाने के प्रकार, बहुत सी साधनाएँ जिनमें मैथुन का भी स्थान था शामिल होती गयीं। नागार्जुन (१५० ई०) से लेकर हर्ष (६०६—६४७ ई०) तक महायान खूब विकसित हो चुका था और महायान सूक्तो के सहारे तत्र का उसमें प्रवेश हो चुका था। हर्ष-काल में श्रीपर्वत (आन्ध्रदेश) तान्त्रिको का अड्डा समझा जाता था और अनेकों साधक तान्त्रिक साधनाओ का अभ्यास गुप्त रूप से करते थे। इन साधनाओ के प्रतिपादक ग्रन्थ भी इस समय तक जरूर बन चुके थे। हर्ष के बाद ८ वीं से १२ वीं शती के बीच में सिद्धयुग में यह सब गुह्य साधनाएँ खुल्लमखुल्ला होने लगी थीं। ८ वीं शती के आरम्भ में ही होने वाले आचार्य इन्द्रभूति ने अपने ग्रन्थ 'ज्ञानसिद्धि' में अनेक तान्त्रिक रहस्यपूर्ण शब्दो की व्याख्या की है। वे शब्द और वाक्य गुह्य-समाज तत्र से लिए गये हैं। सो बहुत साफ है कि ८ वीं शती से पूर्व ही गुह्य-समाज का साधना क्षेत्र में खूब प्रचार हो चुका था। यहा गुह्यसमाज की साधनाओ के उद्देश्यो का सक्षेप में वर्णन करना बहुत ठीक होगा।

साधना का लक्ष्य काय, वाक् और चित्त के व्यापारो में एकरूपता ले आना है। जो कुछ चित्त में है वही काय और वाणी का व्यापार हो एवं जो कुछ काय और वाणी का व्यापार हो ठीक वही चित्त का भाव हो। जरा खोलकर कहें तो यो कह सकते हैं—शरीर अर्थात् शरीरस्थ इन्द्रिय और वाणी के सब विक्षेप शात हो तथा चित्त में भी किसी प्रकार का विक्षेप न हो ऐसी शातावस्था को पाना ही साधना का उद्देश्य है। इसीलिए कहा है :

"उत्पादयन्तुभवन्त चित्त कायाकारेण काय चित्ताकारेण चित्त वाक्प्रत्याहारेणेति ॥" पृष्ठ ११ ॥

इसी शातावस्था को प्राप्त साधक को स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए अनेको कठोर साधनाओं—कायपीडन का उपयोग भी किया जाता था पर बुद्ध के धर्म में जहा दूसरे को पीड़ा पहुँचाना मना है वहा अपने को पीड़ा

देना भी अनार्य-कर्म कहा गया है। सौगत तन्त्र ने भी आत्मपीडा के मार्ग को ठीक नहीं समझा। स्पष्ट ही कहा है —

सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छत.।
अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥
दुष्करैर्नियमैस्तीव्रै सेव्यमानो न सिद्ध्यति।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयश्चाशु सिद्ध्यति ॥ (गुह्य समाज पृष्ठ २७)

कामोपभोगों से विरत जीवन विताने वाले साधकों में मानसिक क्षोभ उत्पन्न होते होंगे—कामभोगो की ओर उनकी इच्छा दौडती होगी और विनय के अनुसार उसे वे दवाते होंगे, पर क्या दमनमात्र से चित्तविक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा? दवायी हुई वृत्तियां जागृतावस्था में न सही, स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होगी। इन प्रमथनशील वृत्तियों को दमन करने से दवते न देख अवश्य ही साधकों ने उन्हें समूल नष्ट करने के लिए जागरूक एव दान्तावस्था में थोडा अवसर दिया होगा कि वे भोग का भी रस ले लें, ताकि उनका सर्वथा शमन हो जाये और वासनारूप से वे हृदय के भीतर न रह सकें। अनगवज्र ने कहा है कि चित्त क्षुब्ध होने से कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती, अत. इस तरह वरतना चाहिए जिसमें मानसिक क्षोभ उत्पन्न ही न हों—

"तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मन.।
सक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदा चन ॥" (प्रज्ञोपायविनिश्चय ५।४०)

जव तक चित्त में कामभोगोपलिप्सा है, तब तक चित्त में क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भोगलिप्सा मन में उत्पन्न न हो इसके लिए एक मार्ग यह था कि भोगो से दूर रहा जाय। पर भोगो से दूर रहने पर भी अवसर पाते ही सोते-जागते मन में छिपी भोग की वासना वदला लिये बिना न मानती थी, सो वहुत पहले लोगों ने इसे समझ लिया था कि भोग से जान तभी बच सकती है जव उनको स्वीकार भी कर लिया जाय और उनके फन्दे में भी न फसा जाये। गीता में कहा है, समुद्र में नदियों के पानी की तरह बिना चाहे जिसके पास काम-भोग पहुँचते है, उसे शाति मिलती है, काम-भोगो को चाहने वाले को नहीं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठसमुद्रमाप प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा य प्रविशन्ति सर्वे स शातिमाप्नोति न कामकामी ॥

इस तरह योगी जैसे शरीर धारण के लिए अन्न ग्रहण करता है, पर जिह्वालपट पेटू व्यक्ति की तरह उसके रस में नहीं फसता, उसी तरह मन की पशुवृत्तियों को शमन करने के लिए योगियो ने कामोपभोग को स्वीकार किया, पर लम्पट पुरुष की भाति भोग स्वीकार के पक्ष में वे नहीं थे। जो भी हो, आरम्भ में भले ही भोगों का स्वीकार वहुत साफ दिल से किया गया हो, पर वाद में भोगो के प्रलोभन से वहुत लोग इसमें घुसे होंगे और उन्हीं के कारण इस साधना के मार्ग में ऊपरी ढोंग वहुत वढ गये होंगे तथा साधन। के वहाने लोग विलासी जीवन भी विताने लगे होंगे।

साधना के इस मार्ग में अनेक प्रकार की योग सवधी कसरतें भी करनी पडती थीं और उनमें जरा भी गडवड होने से साधक को विविध व्याधियो का सामना भी करना पडता था । इसलिए साधक के लिए यह वहुत जरूरी था कि वह किसी गुरु की शरण ले जो उसे साधना के वीच मदद पहुँचाये । फलत. इस साधना में गुरु का वडा आदर है। यह पूछने पर कि आपका गुरु कौन है? वुद्ध ने उत्तर दिया था कि मैंने सवका पराभव किया है, मैं सर्वविद् हूँ, सव धर्मों से मैं निर्लिप्त हूँ, मैंने सवका त्याग किया है, मेरी तृष्णा का क्षय हो चुका है, मैं मुक्त हूँ, मैंने स्वय जाना है-- मैं किसे अपना गुरु वताऊ --

"सव्वाभिभू सव्वविदूहमस्मि
सव्वेसु धम्मेसु अनूपलित्तो ।
सव्वजहो तण्हखये विमुत्तो
सय अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं ॥"

पर गुह्य साधना में विना गुरु के न कोई साधक हो सकता है और न सिद्धि ही । जो सिद्ध हो चुका है उसके भी गुरु है और जो साधक है वह तो सर्वथा गुरु के आश्रय में है ही। इसलिए गुह्य साधना के अनुसार वुद्ध जो सचमुच सिद्ध है और वोधिसत्व जो साधकावस्था में है, गुरु की सदा पूजा करते है। गुह्य साधना के इस गुरु--वज्राचार्य के दार्शनिक रूप को आगे चलकर देखेंगे। इस वज्राचार्य के प्रति वुद्ध और वोधिसत्व जैसे वरतते थे उसका जिक्र यों है --

"मैत्रेय वोधिसत्व ने सव तथागतो को नमस्कार करके पूछा कि तथागत और वोधिसत्व वज्राचार्य के प्रति कैसे देखें (व्यवहार करें) ? तथागतों ने कहा . .सक्षेप में कहते है, लोक धातुओ में जितने वुद्ध और वोधिसत्व हैं, वे तीनो समय आकर उस आचार्य की पूजा कर के अपने-अपने लोक को लौट जाते है और कहते है, आप सव तथागतो के पिता और माता हैं ।" (पृष्ठ १३७---१३८) । अतएव वहुत स्पष्ट है कि वुद्ध और वोधिसत्त्वों के वीच इस साधना में आचार्य का स्थान प्रमुख है ।

तथागतों का इस साधना के भीतर शक्ति या भार्या के सहित वर्णन है। तथागत ही नहीं, तथागत की भार्याएँ भी वज्राचार्य की पूजा करती है। तथागत और उनकी भार्याओं के दार्शनिक रूप को हम आगे चल कर देखेंगे । वज्राचार्य के वहुत कुछ मूर्त रूप वज्रपाणि तथागत है। वज्र के सकेत के रहस्य को हम अनुपद ही देखेंगे। वज्रपाणि तथागत से तथागत की शक्तिया अपनी कामना के लिए प्रार्थना करती है और वे समाधिस्थ होकर उनकी कामना करते है। यहा तथागत की शक्तियों की प्रार्थना को उद्धृत करना उपयुक्त होगा--

त्व वज्रचित्त भुवनेश्वर सत्त्वधातो
त्रायाहि मा रतिमनोज्ञ महार्थकामैं ।
कामाहि मां जनक सत्त्वमहाग्र वन्धो
यदीच्छते जीवित मञ्जुनाथ ॥ .. .. इत्यादि (पृष्ठ १४५) ।

इस प्रार्थना को सुन कर "वज्रपाणिस्तथागत . . . .सर्वं तथागतदयितां समयचक्रेण

कामयन् तूष्णीमभूत्" . इस कामना के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा है कि उस समय जितने प्राणी थे वे त्रिवज्रज्ञानी सम्यक् सम्बुद्ध हो गये : "सत्वा. सर्वे ते तथागता अर्हन्त. सम्यक्सम्बुद्धास्त्रिवज्रज्ञानिनो ऽभूवन् ।"

इस गुह्य-साधना में काय-वाक्-चित्त की ही साधना है ; तथागत और तथागत की शक्तियों का ही प्रमुख स्थान है। इसलिए यहां उनके स्वरूप पर विचार कर लेना ठीक होगा। बौद्ध-दर्शन में विश्व के सम्पूर्ण पदार्थो का विभाजन पंच-स्कधों में किया गया है। साधना के भीतर इन्हीं पाच स्कन्धों को पच तथा गत माना गया है। "पचस्कन्धा समासेन पच बुद्धा प्रकीर्तिता." (पृष्ठ १३७) । रूपस्कन्ध को वैरोचन, वेदनास्कन्ध को रत्नसभव, सज्ञास्कन्ध को अमिताभ, सस्कारस्कन्ध को अमोघसिद्धि और विज्ञानस्कन्ध को अक्षोभ्य कहते हैं। इस गुह्य-साधना का दर्शन शून्यवाद है और शून्यवाद के हिसाब से पाचों स्कन्धों की सत्ता निरपेक्ष है ही नहीं। निरपेक्ष-सत्ता के अभाव को ही माध्यमिक शून्यता कहते हैं। यह शून्यता ही सब धर्मों का स्वभाव है—

"गुडे मधुरताचाग्नेरुष्णत्व प्रकृतिर्यथा ।
शून्यता सर्वधर्माणा तथा प्रकृतिरिष्यते ।।" (अद्वयवज्र सग्रह पृष्ठ ४२) ।

इसी शून्यता के मूर्तरूप वज्रसत्त्व हैं, वज्रधर, वज्रपाणि तथागत भी इस शून्यता के ही मूर्तरूप हैं । साधना के आचार्य भी इसी शून्यता के ही प्रतीक हैं। वज्रशब्द शून्यता का ही सकेत है ।

इन पाच तथागतों के पांच 'कुल' हैं। रूपस्कन्ध का मोहकुल है, वेदना-स्कन्ध का ईर्ष्याकुल है, सज्ञास्कन्ध का रागकुल है, सस्कारस्कन्धका वज्र या चिन्तामणिकुल है, और विज्ञानस्कन्ध का द्वेष या समयकुल है । इसी तरह पाच शक्तिया भी हैं—मोहरति, ईर्ष्यारति, रागरति वज्ररति और द्वेषरति। इन कुलों और शक्तियो का नामकरण वहुत कुछ स्कन्धों के स्वभाव के अनुसार हुआ है। रूपस्कन्ध जिसमें भूत(पृथिवी आदि) शामिल है, वन्धन या आवरण के स्वभाव वाला है। मोह भी वाधता है—ज्ञान को आवृत करता है, सो रूपस्कन्ध के साथ मोहकुल को जोडा है। यही वात दूसरे कुलो के साथ है। शक्तियो का नामकरण भी पाच स्कन्धों के स्वभाव के अनुसार ही किया गया है । पर शक्तियां केवल पाच स्कन्धों के स्वभावों की ही प्रतीक नहीं हैं, वे पृथिवी, वायु, तेज, और जल धातुओं की भी प्रतीक हैं । मोहरति पृथिवी की प्रतीक है। इसका दूसरा नाम लोचना है। ईर्ष्यारति वायु की प्रतीक है। इसका दूसरा नाम तारा है । रागरति तेज की प्रतीक है। इसका दूसरा नाम पाण्डरवासिनी है। द्वेषरति जल की प्रतीक है ; इसका दूसरा नाम मामकी है। इन तथागतो और शक्तियों का विविध चिन्हों और रगरूप के साथ वर्णन है। उन सवको यहा नहीं छेडा जा सकता पर इन वर्णनों का महत्त्व वहुत है, भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला को इन सव चिह्नों और सकेतों के जाने विना समझा नहीं जा सकता । यहा इनका एक कोष्ठक दे देना ठीक होगा

पच स्कन्ध	पच तथागत या ध्यानी बुद्ध	रग	चिन्ह	वर्ण	पच कुल	पचतथागत भार्या या शक्तिया	शक्तियो के दूसरे नाम	प्रतीक भूत शक्तियो के तत्व	रंग	चिह्न
रूप	वैरोचन	शुक्ल	शुक्लचक्र	कवर्ग	मोह	मोहरति	लोचना	पृथिवी	शुक्ल	चक्र
वेदना	रत्नसभव	पीत	रत्न	टवर्ग	ईर्ष्या	ईर्ष्यारति	तारा	वायु	श्याम	नीलोत्पल
सज्ञा	अमिताभ	रक्त	पद्म	तवर्ग	राग	रागरति	पाण्डरवासिनी	तेज	रक्त	पद्म
सस्कार	अमोघसिद्धि	श्याम	वज्र	पवर्ग	वज्र (चिंतामणि)	वज्ररति				
विज्ञान	अक्षोभ्य	कृष्ण	कृष्णवज्र	चवर्ग	द्वेष (समय)	द्वेषरति	मामकी	जल	कृष्ण	कृष्णवज्र
शून्यता	वज्रसत्व	शुक्ल	वज्रघटा	अन्त स्थ			प्रज्ञापारमिता			

इन पाच स्कन्धों से ही सौगत सिद्धात के अनुसार हमारे अध्यात्म का विकास हुआ है। अध्यात्म से अभिप्राय है, काय, वाक् और चित्त। एव काय, वाक् और चित्त की साधना में इन स्कन्धों का प्रमुख स्थान होना स्वाभाविक है। स्कन्ध जैसा कि ऊपर जिक्र किया जा चुका है, माध्यमिको के अनुसार नि स्वभाव हैं, उनकी स्वाभाविक सत्ता नहीं है, अत· वे शून्य हैं। शून्यता का उपयोग जितना दार्शनिक क्षेत्र में है, उससे कहीं अधिक उपयोग साधना के क्षेत्र में है। साधक जिस शान्तावस्था को प्राप्त करना चाहता है उसके लिए यह बहुत जरूरी है कि वह तृष्णा से मुक्त हो और शून्यता तृष्णा से पीछा छुडाने में मदद करती है—जो चीज टिकाऊ है ही नहीं उसके साथ हमारी तृष्णा टिकाऊ हो ही नहीं सकती। पर शून्यता से यह समझना कि वह कोरी अभावात्मक दृष्टि है, कदापि ठीक न होगा। आचार्य नागार्जुन ने कहा है कि जो लोग नित्यवादी हैं उनको तो शून्यता के द्वारा उस वाद से निकाला जा सकता है, पर जो शून्यतावादी हैं उनका इलाज ही नहीं हो सकता—

"शून्यता सर्वदृष्टीना प्रोक्ता निःसरण जिनैः।
येषा तु शून्यता दृष्टिस्तान् असध्यान् बभाषिरे ॥" (माध्यमिक कारिका)

इस शून्यवादी दर्शन ने तत्त्ववाद के क्षेत्र में जहा नित्य या स्थिर समझे जाने वाले तत्त्वों को असत् सिद्ध कर दिया, वहां तन्त्र में प्रविष्ट होकर आचार की भीत को भी गिराना शुरू कर दिया। आचार के जो सभी नियम समाज में थे, उन्हें मनगढ़न्त करार देकर निकम्मा सिद्ध कर दिया गया। आचार के नियमो को मनगढ़न्त सिद्ध करना तो सचमुच ही ठीक था, पर निकम्मा सिद्ध करना अच्छी बात न थी। पर जब तक उन्हें निकम्मा न बताया जाता तब तक गुह्य-साधनों में प्रवृत्त होना किसी के लिए सम्भव भी न था। लोकाचार के नियमों को आध्यात्मिक उन्नति के लिए निकम्मा समझने के ख्याल ने ही चौरासी सिद्धों के युग में साधको को भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय और गम्यागम्य के झझट से छुडा दिया।

बौद्धों के पचस्कन्ध आदि पदार्थ जिस तरह ध्यानी बुद्ध आदि के रूप में बदल गये, वैसे ही अन्य देवतागणों को भी जो अबौद्ध धर्मो में जगह बनाये हुए थे, बौद्ध धर्म में घुस आने पर बहुत-कुछ बौद्ध रूप ग्रहण करना पडा और तदनुसार अपने रूप में थोडा हेर-फेर भी करना पडा। यहा हिन्दुओं के प्रमुख देवता ब्रह्मा विष्णु और महेश का जिक्र करना ठीक रहेगा। ऊपर हम त्रिवज्र का जिक्र कर चुके हैं। वज्र का धर्म शून्यता या नि·स्वभावता है। काय की नि स्वभावता का नाम ब्रह्मा, वाणी की नि स्वभावता का नाम महेश्वर और चित्त की नि स्वभावता का नाम विष्णु है —

"कायवज्रो भवेत् ब्रह्मा वाग्वज्रस्तु महेश्वर।
चित्तवज्रधरो राजा सैव विष्णुर्महर्द्धिक ॥" (पृष्ठ १२९)

इन देवगणो ने बाहर से बौद्ध धर्म में प्रवेश कर भले ही ऊपर से बौद्ध रूप ग्रहण कर लिया हो, पर उनकी जो साधनाए बौद्ध धर्म में प्रविष्ट हुईं, उनके मूलतत्त्व

ज्यों के त्यों बने रह गये। शिवोपासना जो इन्द्रिय द्वय के प्रतीक रूप में होती है और जिस उपासना में आज अश्लीलता की गन्ध भी नहीं मालूम होती, उसकी साधना के रहस्य का वर्णन करते हुए कहा गया है —

त्रैधातुकस्थिता सर्वामंगना सुरतविह्वलाम्।
कामयेत् विविधैर्भावैः समयः परमाद्भुत ॥ (पृष्ठ १२९)

बहुत स्पष्ट रूप से इसमें मैथुन की उपादेयता का प्रतिपादन है। वाग्वज्र के रूप में महेश्वर बौद्ध धर्म में आते और उनकी साधना का उपकरण पचम मकार न आता, यह सभव ही कैसे था ?

इस तरह बौद्ध धर्म में मन्त्र, मद्य, मास, और मैथुन का साधना या योगाभ्यास में सहायता देने के लिए प्रवेश हुआ। मुख्यतया सिद्धियो की लिप्सा ने इस प्रकार के तत्वों को बौद्ध धर्म में घुस आने दिया। जनसाधारण का दिव्य शक्तियों पर विश्वास था ही, और इस प्रकार साधनाओं से दिव्य शक्ति मिलती है। यह धर्माचार्यों ने उन्हें समझा ही दिया था, फलत ये प्रवृत्तिया जो पहले छिपे-छिपे काम करती थीं, बाद में खुल्लमखुल्ला काम करने लगीं। यद्यपि बुद्ध ने अपने धर्म में सिद्धि के चमत्कारों को विशेष स्थान नहीं दिया है और न उन चमत्कारो के कारण मुक्त होने की बात ही कहीं है, फिर भी त्रिपिटक में चमत्कारों और सिद्धियों का वर्णन खूब है और उनके कारण धर्माचार्यो के सत्कार और पूजा होने की बात का भी उल्लेख है। अत सिद्धि के लिए लोगो का यत्नशील होना उस काल में स्वाभाविक था और चाहे जिस उपाय से हो, सिद्धि प्राप्त करना धर्माचार्यो का ध्येय था। सौगततत्र में दो प्रकार की सिद्धियो का प्रतिपादन है। अन्तर्धान इत्यादि सिद्धिया साधारण मानी जाती हैं और बुद्धत्व की प्राप्ति मुख्य सिद्धि। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए महायान ने जिस बोधिचर्या का उपदेश दिया वह बड़ी दुष्कर थी। अनेक जन्मो तक प्राणिहित के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने के बाद बुद्धत्व की प्राप्ति होने की अपेक्षा यदि थोड़े यत्न से बुद्धत्व प्राप्ति हो सके तो उस ओर लोगो का झुकना स्वाभाविक था। तन्त्र ने यह रास्ता खोल दिया और घोषणा की कि साधारण सिद्धिया ही नहीं, बुद्धत्व प्राप्ति भी इसी जन्म में हो सकती है · "गंगा नदी की बालुका के समान अनन्त कल्पो तक परिश्रम करते हुए बोधिसत्व जिस बोधि को नहीं पाते, उसे गुह्य-साधना में रत बोधिसत्व इसी जन्म में पाकर बुद्ध हो जाता है।" (पृष्ठ १४४) सामान्य सिद्धियो और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के उपायों से मन्त्रशास्त्र भरा पड़ा है। उन उपायो और साधनाओं के वर्णन के लिए एक विशाल वाङ्मय का सृजन हुआ है। यद्यपि वह आज संस्कृत में उपलब्ध नहीं, पर अपने तिब्बती अनुवादो में सुरक्षित है। तिब्बती साधकों और तिब्बती में अनूदित मन्त्रशास्त्र के अनुवादों से भारतीय योग की हठयोग, त्राटक, स्वरोदय, भूतावेश आदि की प्रक्रियाओं और उनके इतिहास को जाना जा सकता है।

बौद्ध धर्म में बाहर से आयी हुई इन साधनाओं में उन्हें ही सिद्धि प्राप्त हो सकती थी जो सब प्रकार के आचार-विचार से विमुक्त हों। चडाल, डोम आदि

जो समाज के निचले स्तर में गिने जाते थे, उन लोगों का इस साधना में केवल स्थान ही नहीं, प्रत्युत प्रशस्त स्थान समझा जाता था। सिद्धों में अनेक हीन वर्णो में से ही थे। शौचाशौच संबधी सभी नियमों को छोडे बिना किसी की इन साधनाओं में गुजाइश न थी। इससे हम और कोई निष्कर्ष न भी निकालें तो इतना जरूर कह सकते है कि बौद्ध धर्म की इस तांत्रिक लहर ने समाज के सभी स्तरों को बहुत प्रभावित किया था। छोटे से बडे सभी इन सिद्धो का आदर करते थे। हीन समझी जाने वाली जातियों में से अनेक सिद्धों ने उस समय बडी प्रतिष्ठा पायी होगी। उनके उपदेशों से जनता के निचले स्तर में बहुत चेतना आ गयी होगी और वे इस बात का अनुभव करने लगे होंगे कि केवल श्रोत्रिय लोगों को ही नहीं, उन्हें भी धर्म में अधिकार है।

§§४. ब्राह्मण प्रमुख धर्म में बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया के चिन्ह

एक ओर बुद्धप्रमुख श्रमणों की परम्परा में जहां एक व्यापक सार्वजनीन धर्म-दर्शन की विचारधारा का विकास हो रहा था, वहा दूसरी ओर ब्राह्मण परपरा में अनेक प्रतिक्रिया के चिन्ह भी दिखायी देते थे। यह प्रतिक्रिया तुलसीदास के समय तक पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी पर पूर्व युग में इससे लगी निष्ठुरता इस युग में कम हो गयी थी। वस्तुत श्रमण-ब्राह्मण अथवा सत-ब्राह्मण परम्परा में कुछ मौलिक भेद है। दोनों एक दूसरे की शत्रु भी नही है पर दोनो में पूर्ण मैत्री भी नहीं है।

इन श्रमण-ब्राह्मण विचारधाराओं की परम्परा यद्यपि बुद्ध-युग से भी पूर्व में खोजी जा सकती है, पर बुद्ध-युग में वे धाराए इतनी प्रत्यक्ष है कि हम उनकी ओर से आखें नहीं मूदे रह सकते। ब्राह्मण और श्रमण विचारधाराओं में परस्पर क्या भेद है? ब्राह्मण विचारधारा को यदि दूसरे शब्दों में कहें तो वह प्रधानतया प्रवृत्ति-मार्ग की विचारधारा है। इस प्रवृत्तिमार्ग का स्वरूप श्रुति-स्मृति-पुराण प्रतिपादित धर्म है, जिसके नेता ब्राह्मण ही है और हो सकते है। ब्राह्मण होना अपने बस की बात नहीं है। सुनते है विश्वामित्र अपने बलबूते पर ब्राह्मण हो गये थे। किन्तु यह भी सुना है कि कोई-कोई रगड करते-करते खतम भी हो गये, पर ब्राह्मणत्व नसीब नहीं हुआ। महाभारत के अनुशासन पर्व में, २०-२१ वें अध्यायों में एक चाडाल की कथा इस बात पर पूरा प्रकाश डालती है। किसी ब्राह्मण के पुत्र का नाम मतग था। पिता ने उसे यज्ञकार्य के लिए सामग्री लाने को बाहर भेजा। वह गधजुते रथ पर बैठकर जा रहा था। उसने तेज चलने के लिए गधे के नथुने पर प्रहार किया जिससे घाव हो गया। उसे देख रास्ते में चरती हुई उस गधे की माता ने कहा—'पुत्र! शोक न करो, चाडाल तेरे रथ पर बैठा हुआ है।' गधे की माता की बात सुन मतग ने उससे पूछा तो उसने कहा कि तू ब्राह्मण का पुत्र नहीं है। शूद्र से ब्राह्मणी में तेरी उत्पत्ति हुई है। यह सुन कर मतग लौट आया और उसने पिता से सब बात कही। फिर ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिए वन में तप करने चला गया। उसके तप से प्रसन्न हो, इन्द्र ने

उसे दर्शन दे, वर मागने को कहा। उसने ब्राह्मणत्व मागा। इन्द्र ने कहा कि ब्राह्मणत्व इस शरीर से नहीं मिल सकता। उसने पहले से भी उग्र तप करना शुरू किया। इन्द्र फिर आये और यह कहकर चले गये कि इस शरीर से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसने अब और भी उग्र तप करना शुरू किया और "दुर्वह योग का अभ्यास करते कृश, (मास के अभाव में) धमनि संतत (=नसों से व्याप्त) हड्डी-चमडे मात्र शरीरवाला वह धर्मात्मा (भूमि पर) गिरने लगा।१ पर इन्द्र ने उसे जमीन पर गिरने नहीं दिया और बीच ही में उठा लिया तथा फिर वही बात कही कि इस शरीर से ब्राह्मणत्व प्राप्ति नहीं होगी। इस पर मतग ने कहा—"मुझ दुखपीडित को क्यो और दुख दे रहे हो, मुझ मरे को क्यों मार रहे हो। मुझे तो तुम्हारा सोच है कि ब्राह्मणता पाकर भी तुम ब्राह्मण नहीं होना चाह रहे हो। हे इन्द्र! अपने आपमें रमा, राग द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित परिग्रहहीन, मैं अहिंसा और इन्द्रिय-सयम करके भी कैसे ब्राह्मणता के योग्य नहीं हूँ?'२ इन्द्र ने इतने पर भी ब्राह्मणता का वरदान नहीं दिया। हा, यह वर दिया कि तुम्हारा यश होगा और स्त्रियां तुम्हें पूजेगीं (स्त्रीणा पूज्यो भविष्यसि)। उपसहार में इतना और कह दिया है कि मरने पर उसे ब्रह्मलोक मिला (सप्राप्तं स्थानमुत्तम)। इस प्रकार ब्राह्मणो के प्रवृत्ति मार्ग में नेतृत्व करने वाला ब्राह्मण जन्ममूलक ब्राह्मण है। वह इस जन्म में शील-गुण द्वारा, वैराग्य-सयम द्वारा, अहिंसा-मैत्री द्वारा, क्षमा-सहिष्णुता द्वारा नहीं बन सकता। ऐसा जन्मसिद्ध ब्राह्मण ही मानस कवि के अनुसार पूज्य है, चाहे उसमें शीलगुण हो या न हों; शीलगुण होने पर भी दूसरा पूजा के योग्य नहीं है—

पूजिय विप्र शील गुन हीना। शूद्र न गुनगन ज्ञान प्रवीना॥

श्रमणो या सतो की विचारधारा वस्तुत प्रधानतया निवृत्तिमार्ग की विचारधारा है। उसका नेतृत्व वे सभी लोग कर सकते है, जो शीलगुण के धनी हों, विद्याचरण सम्पन्न हों, उनका जन्म भले ही किसी कुल में क्यों न हो। ऐसे व्यक्ति के लिए बुद्ध ने कहा है कि वह देवताओ और मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है। हिन्दू स्मृतियों में हीनवर्ण के लोगों के लिए शीलगुण अर्जन की सुविधा नहीं है। मनु ने कहा है—"शूद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए, न यज्ञ का उच्छिष्ट ही देना चाहिए। उसे धर्म का उपदेश भी नहीं देना चाहिए और न उसे व्रत का विधान ही बताना चाहिए।"३ अत्रि ने कहा है—"जप, तप, तीर्थ-यात्रा प्रव्रज्या और मत्रसाधन इन छह बातो से स्त्री और शूद्र पतित हो जाते हैं।"४ मनु और भी कहते हैं—'ब्रह्मा ने शूद्र के लिए एक कर्तव्य बताया है और वह यह कि वह इन द्विजवर्णों

---

१ सुदुर्वह बहन्योग कृशो धमनिसंतत। त्वगस्थिभूतो धर्मात्मा स पपातेति न श्रुतम्।

२ कि मा तुदसि दुखार्त मृत मारयसे च मा। त्वा तु शोचामि यो लब्ध्वा ब्राह्मण्य न बुभूषसे। एकारामो ह्यह शक्र निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रह। अहिंसादममास्थाय कथ नार्हामि विप्रतां।

३ न शूद्राय मति दद्यान्नोच्छिष्ट न हविष्कृत। न चास्योपदिशेद्धर्म न चास्य व्रतमादिशेत्।

४ जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मत्रसाधनम्। देवताराधन चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट्॥

की असूया छोड कर सेवा करे ।"५ हीन वर्णो पर इन सब धर्मशास्त्र की कडाइयों के होते हुए भी श्रमणों ने—सतो ने सदा धर्म में समानाधिकार के पक्ष की देशना की । धर्म-समता का प्रचार करने वाले इन सतो को समय-समय पर राजतन्त्र की अनुकूलता और प्रतिकूलता के कारण मान-अपमान, सत्कार और अत्याचार सभी कुछ नसीब हुआ। अशोकावदान में इन आप बीती घटनाओं की एक झलक है। अशोक सभी भिक्षुओ की वन्दना करता था। यह बात उसके अमात्य यश को अच्छी न लगी । वह वोला—'महाराज ! इन शाक्य श्रमणों में सब जाति के लोग हैं, इनके सामने आपका सिर नमाना उचित नहीं ।' इसका उत्तर अशोक ने नहीं दिया और कुछ समय बाद बकरे-भेड आदि मेध्य प्राणियों के सिर मगाकर अमात्यो से उन्हें बेंच लाने को कहा । यश अमात्य को मृत मनुष्य का सिर देकर बेचने भेजा। बकरे आदि प्राणियों के सिरो की कुछ कीमत मिली ! लेकिन मनुष्य के सिर का कोई खरीददार न मिला । तब अशोक ने उसे किसी को मुफ्त में दे देने की आज्ञा दी। किन्तु उसे मुफ्त लेने वाला भी कोई न मिला। तब अशोक ने उससे पूछा—'इसे लोग मुफ्त क्यो नहीं लेते ?' यश–(क्योंकि इस सिर से लोग घृणा करते हैं।' अशोक—'इसी सिर से लोग घृणा करते हैं या सब मनुष्यो के सिर से घृणा करेंगे ?' यश–'महाराज, किसी के भी काटकर लाये सिर से लोग घृणा करेंगे।' अशोक—'क्या मेरे सिर से भी ?' इस प्रश्न का उत्तर देने में यश बहुत हिचकिचाया, पर अशोक के अभयदान देने पर उसने कहा—'महाराज के सिर से भी लोग घृणा करेंगे।' अशोक ने इस पर कहा कि यदि मेरा ऐसा सिर भिक्षुओं के आगे झुका तो आपको बुरा क्यों लगा। वहीं अशोकावदान में जोर देकर कहा गया है कि—'लडकी के लेने-देने के समय यदि कोई जाति का विचार करे तो करे, पर धर्म करने के समय जाति का विचार नहीं किया जा सकता। धर्मक्रिया में गुण ही कारण होते हैं–जाति नहीं, गुण जाति विचार कर किसी के पास नहीं जाते।"६ इस प्रकार अशोक जैसे राजा से मान पाकर बाद में पुष्यमित्र जैसे राजाओ से उन्हें अपमान और अत्याचार भी कम नहीं सहने पड़े। वहीं अशोकावदान में कहा है—"पुष्यमित्र भिक्षुओं को मारता और संघारामों को जलाता चला। वह स्यालकोट पहुँचा। और घोषणा की कि जो मुझे एक श्रमण का सिर देगा उसे मैं सौ दीनार दूगा।"७ राजमान या राजकोप में श्रमणो का मूल्य नहीं कूता जा सकता। उनके मूल्य को जनता पर पडे उनके प्रभाव से आका जा सकता है। जनता का वह वर्ग जो शूद्र या अतिशूद्र है, जिसे श्रुति, स्मृति और पुराण प्रतिपादित धर्म में अपमान के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, उसमें कोमलता, दया और

---

५ एकमेव हि शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णाना शुश्रूषामनसूयया ॥

६ आवाहकालेऽथ विवाहकाले जाते परीक्षा न तु धर्मकाले ।
धर्मक्रियाया हि गुणा निमित्ता गुणाश्च जाति न विचारयन्ति ॥

७. पुष्यमित्रो यावत् सघारामान् भिक्षूश्च घातयन् प्रस्थित । स यावच्छाकलमनुप्राप्त । तेनाभिहित यो मे श्रमणसिरो दास्यति तस्याह दीनारशत दास्यामि ॥

मैत्री आदि सद्गुणों का जो विकास हुआ है, वह श्रमणो या सतो की कृपा से ही हुआ है। लोगों में निर्वैरभावना, क्षमा, एव सहिष्णुता का विकास करना ही श्रमणता का मुख्य ध्येय है। तथागत ने स्वय कहा है—"(दूसरे से सताये जाने पर यदि तुम टूटे कासे के समान चुप रहो तो तुमने निर्वाण पा लिया। तुम्हारे लिए सारभ (हिंसा या कलह) नहीं रहा।"८

इस प्रकार की श्रमणता का उपदेश देने वाले बुद्ध प्रमुख संत निर्मुक्त थे, उन पर न तो वेदो का भार था और न ब्राह्मणो की गुलामी। मानस के कवि का विचार सतो की इस निर्मुक्त धारा से प्रभावित हुआ है और इसलिए सतो के प्रति उसका हृदय वडा उदार है। पर उसका उपास्य सत उन सतो की परम्परा का सत नहीं है, जिसमें बुद्ध, उनके अनुयायी अनेक आचार्य एव सिद्धगण तथा कबीर आदि हुए हैं। मानस का सत स्वतन्त्र चेता, श्रमी, यती एव तपस्वी नहीं है, उसके सिर पर वेद और ब्राह्मणो की पराधीनता का अपार भार है, जिससे उसे सास लेना मुश्किल हो रहा है। अव हम इस वात का मानस की सहायता से प्रतिपादन करेंगे।

मानस के आरम्भ में ही सत-वन्दना है। वह वन्दनीय सत सकल गुणो से युक्त है, स्वय दुख सहकर दूसरे के दुखो को दूर करने वाला है, वह मगलमय है, उसकी सगति से वुद्धि वढती है, कीर्ति प्राप्त होती है, सद्गति का भरोसा हो जाता है, ऐश्वर्य भी मिलता है, मनुष्य कल्याण का भागी होता है, दुर्जन सज्जन बन जाते हैं। इस महनीय चरित्र वाले सत की गुणावली का वर्णन करने में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कवि और विद्वानो की वाणी पार नहीं पाती। फलत ऐसा कौन है जो ऐसे सत की वन्दना न करे। मानस का कवि इन्हें वडी भक्ति के साथ स्मरण करता है, पर यह सव वन्दना अग्र वन्दना नहीं है। अग्र वन्दना का स्थान तो ब्राह्मण के लिए सुरक्षित है और मानस का कवि वडे उल्लास के साथ कह उठता है—

बन्दौं प्रथम महीसुर चरना।

सत वेचारे की वन्दना की भी गयी, पर उसके चरणो को वरा दिया गया। कहना ही होगा कि मानस-कर्ता ने सत की सारी महिमा को ब्राह्मणों के चरणो के नीचे लुठित कर दिया है।९

---

८ स चे नेरेसि अत्तान कसो उपहतो यथा। एस पत्तोऽसि निब्बान सारभो ते न विज्जति! (धम्मपद)

९ बन्दौं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित ससय सव हरना॥
सुजन समाज सकल गुनखानी। करउँ प्रनाम सप्रेम सुवानी॥
मुद मगल मय सन्त समाजू। जो जग जगम तीरथराजू॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहा जेहि पाई॥
सो जानव सतसग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ॥
सतसगति मुद मगल मूला। सोइ फल सिधि सव साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसगति पाई। पारस परसि कुधातु सोहाई॥
बिधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥
सो मोसन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि गुन गन जैसे॥

की असूया छोड कर सेवा करे ।"५ हीन वर्णो पर इन सब धर्मशास्त्र की कडाइयों के होते हुए भी श्रमणों ने–सतों ने सदा धर्म में समानाधिकार के पक्ष की देशना की । धर्म-समता का प्रचार करने वाले इन सतो को समय-समय पर राजतन्त्र की अनुकूलता और प्रतिकूलता के कारण मान-अपमान, सत्कार और अत्याचार सभी कुछ नसीब हुआ। अशोकावदान में इन आप बीती घटनाओ की एक झलक है। अशोक सभी भिक्षुओं की वन्दना करता था। यह बात उसके अमात्य यश को अच्छी न लगी । वह बोला—'महाराज ! इन शाक्य श्रमणो में सब जाति के लोग हैं, इनके सामने आपका सिर नमाना उचित नहीं ।' इसका उत्तर अशोक ने नहीं दिया और कुछ समय बाद बकरे-भेड आदि मेध्य प्राणियों के सिर मगाकर अमात्यो से उन्हें बेंच लाने को कहा । यश अमात्य को मृत मनुष्य का सिर देकर बेचने भेजा। बकरे आदि प्राणियो के सिरो की कुछ कीमत मिली ! लेकिन मनुष्य के सिर का कोई खरीददार न मिला । तब अशोक ने उसे किसी को मुफ्त में दे देने की आज्ञा दी। किन्तु उसे मुफ्त लेने वाला भी कोई न मिला। तब अशोक ने उससे पूछा—'इसे लोग मुफ्त क्यो नहीं लेते ?' यश–'क्योकि इस सिर से लोग घृणा करते हैं।' अशोक—'इसी सिर से लोग घृणा करते है या सब मनुष्यो के सिर से घृणा करेंगे ?' यश–'महाराज, किसी के भी काटकर लाये सिर से लोग घृणा करेंगे।' अशोक—'क्या मेरे सिर से भी ?' इस प्रश्न का उत्तर देने में यश बहुत हिचकिचाया, पर अशोक के अभयदान देने पर उसने कहा—'महाराज के सिर से भी लोग घृणा करेंगे।' अशोक ने इस पर कहा कि यदि मेरा ऐसा सिर भिक्षुओं के आगे झुका तो आपको बुरा क्यो लगा। वहीं अशोकावदान में जोर देकर कहा गया है कि—'लडकी के लेने-देने के समय यदि कोई जाति का विचार करे तो करे, पर धर्म करने के समय जाति का विचार नहीं किया जा सकता। धर्मक्रिया में गुण ही कारण होते हैं–जाति नहीं, गुण जाति विचार कर किसी के पास नहीं जाते।"६ इस प्रकार अशोक जैसे राजा से मान पाकर बाद में पुष्यमित्र जैसे राजाओ से उन्हें अपमान और अत्याचार भी कम नहीं सहने पडे। वहीं अशोकावदान में कहा है—"पुष्यमित्र भिक्षुओं को मारता और सघारामों को जलाता चला। वह स्यालकोट पहुँचा। और घोषणा की कि जो मुझे एक श्रमण का सिर देगा उसे मैं सौ दीनार दूगा।"७ राजमान या राजकोप में श्रमणो का मूल्य नहीं कूता जा सकता। उनके मूल्य को जनता पर पडे उनके प्रभाव से आका जा सकता है। जनता का वह वर्ग जो शूद्र या अतिशूद्र है, जिसे श्रुति, स्मृति और पुराण प्रतिपादित धर्म में अपमान के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, उसमें कोमलता, दया और

---

५ एकमेव हि शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णाना शुश्रूषामनसूयया ॥

६ आवाहकालेऽथ विवाहकाले जाते परीक्षा न तु धर्मकाले ।
धर्मक्रियाया हि गुणा निमित्ता गुणाश्च जाति न विचारयन्ति ॥

७. पुष्यमित्रो यावत् सघारामान् भिक्षूश्च घातयन् प्रस्थित । स यावच्छाकलमनुप्राप्तः ।
तेनाभिहित यो मे श्रमणसिरो दास्यति तस्याह दीनारशत दास्यामि ॥

मैत्री आदि सद्गुणों का जो विकास हुआ है, वह श्रमणो या सतो की कृपा से ही हुआ है। लोगों में निर्वैरभावना, क्षमा, एव सहिष्णुता का विकास करना ही श्रमणता का मुख्य ध्येय है। तथागत ने स्वय कहा है—"(दूसरे से सताये जाने पर यदि तुम टूटे कासे के समान चुप रहो तो तुमने निर्वाण पा लिया। तुम्हारे लिए सारभ (हिंसा या कलह) नहीं रहा।"८

इस प्रकार की श्रमणता का उपदेश देने वाले बुद्ध प्रमुख सत निर्मुक्त थे, उन पर न तो वेदों का भार था और न ब्राह्मणों की गुलामी। मानस के कवि का विचार सतो की इस निर्मुक्त धारा से प्रभावित हुआ है और इसलिए सतों के प्रति उसका हृदय बडा उदार है। पर उसका उपास्य सत उन सतों की परम्परा का सत नहीं है, जिसमें बुद्ध, उनके अनुयायी अनेक आचार्य एव सिद्धगण तथा कबीर आदि हुए हैं। मानस का सत स्वतन्त्र चेता, श्रमी, यती एव तपस्वी नहीं है; उसके सिर पर वेद और ब्राह्मणों की पराधीनता का अपार भार है, जिससे उसे सास लेना मुश्किल हो रहा है। अब हम इस बात का मानस की सहायता से प्रतिपादन करेंगे।

मानस के आरम्भ में ही सत-वन्दना है। वह वन्दनीय सत सकल गुणों से युक्त है, स्वय दुख सहकर दूसरे के दुखो को दूर करने वाला है, वह मगलमय है, उसकी सगति से बुद्धि बढती है, कीर्ति प्राप्त होती है, सद्गति का भरोसा हो जाता है, ऐश्वर्य भी मिलता है, मनुष्य कल्याण का भागी होता है, दुर्जन सज्जन बन जाते हैं। इस महनीय चरित्र वाले सत की गुणावली का वर्णन करने में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कवि और विद्वानों की वाणी पार नहीं पाती। फलत ऐसा कौन है जो ऐसे सत की वन्दना न करे। मानस का कवि इन्हें बडी भक्ति के साथ स्मरण करता है, पर यह सब वन्दना अग्र वन्दना नहीं है। अग्र वन्दना का स्थान तो ब्राह्मण के लिए सुरक्षित है और मानस का कवि बडे उल्लास के साथ कह उठता है—

वन्दौं प्रथम महीसुर चरना।

सत बेचारे की वन्दना की भी गयी, पर उसके चरणों को बरा दिया गया। कहना ही होगा कि मानस-कर्ता ने सत की सारी महिमा को ब्राह्मणों के चरणों के नीचे लुठित कर दिया है।९

---

८ स चे नेरेसि अत्तान कसो उपहतो यथा। एस पत्तोऽसि निब्बान सारभो ते न विज्जति!
(धम्मपद)

९ वन्दौं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित ससय सब हरना॥
सुजन समाज सकल गुनखानी। करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी॥
मुद मंगल मय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहा जेहि पाई॥
सो जानब सतसग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
सतसगति मुद मगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसगति पाई। पारस परसि कुधातु सोहाई॥
बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥
सो मोसन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि गुन गन जैसे॥

मानस में सतो के गुणगान का दूसरा प्रसग अरण्य कांड में आता है। नारद मुनि राम को सीताहरण के अनन्तर पपा के पास प्रियाविरह में रोते और प्रलाप करते देखते है। नारद राम के पास जाते है। यहा पर हुए राम-नारद-सवाद में नारद का अतिम प्रश्न सतों के विषय में होता है।

सतों के लक्षण पूछने पर राम उनसे ब्योरेवार कहते है—सत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर–इन छह विकारो से रहित होता है। वह पुण्यात्मा, वीतराग, स्थिरचेता, अपरिग्रही, मन-वचन कर्म में पवित्र, अपार ज्ञानी, इच्छारहित, मिताहारी, सत्यनिष्ठ और न जाने क्या-क्या होता है। पर इन सब गुणो के होते हुए विप्र में उसका प्रेम होना आवश्यक है। सत का प्रेम तो सबसे होता ही है, फिर विप्र उस प्रेम के भागी न हो सो तो हो नहीं सकता। इसलिए मानस के कवि के ख्याल से सत की विप्र में ही नहीं प्रत्युत् विप्र के चरणों में प्रीति होनी चाहिए। फलत सत का सारा ऐश्वर्य "बिप्र पद प्रेमा" से वशीभूत असमर्थ ऐश्वर्य है।१०

सतों के उत्कर्ष का तीसरा प्रसग उत्तर काड में आता है। राम अपने भाइयो और हनुमान के साथ उपवन देखने गये। उसी समय उचित अवसर जान सनकादि ऋषि राम के दर्शन के लिए पहुँचे। राम ने मुनियों को दण्डवत् प्रणाम किया और अपना निजी पीताबर उनके बैठने के लिए बिछाया। फिर हनुमान तथा अन्य राम के भाइयो ने मुनियो को दण्डवत् प्रणाम किया। राम के साथ चर्चा कर मुनिगण ब्रह्मलोक चले गये। सतों के आदर-सत्कार से भरत बहुत प्रभावित हुए और राम से सतो के लक्षण वर्णन करने की प्रार्थना की। राम ने बताया कि जो लोग अपकारी के प्रति भी उपकार करने वाले, विषयरहित, शीलवान्, गुणवान्, परसुख में सुखी, पर दुख में दुखी, समता रखने वाले, निर्वैरी, मदरहित, वीतराग, लोभ, क्रोध, हर्ष और भय से हीन, कारुणिक, दीनदयालु, निष्कपट, भक्तिवान्, मानरहित, सबके सम्मान-

---

१० सुनु मुनि सन्तन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह तें मैं उन्हके बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमितबोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कवि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धरम गति परम प्रवीना॥
गुनागार ससार दुख, रहित बिगत सदेह॥
तजि मम चरन सरोज प्रिय, तिन्ह कहुँ देह न गेह॥
निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥
जप तप व्रत दम सजम नेमा। गुरु गोविन्द बिप्र पद प्रेमा॥
स्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित पर हित रत सीला॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥

कर्ता हैं वे सन्त हैं। पर इतने गुणों का होना पर्याप्त नहीं है। इन सब गुणों में शायद बडी कमी रह गयी है, इसलिए मानस का कवि उनमें द्विज-पद-प्रीति आवश्यक समझता है। सबके प्रति कारुणिक, सबके प्रति समान भाव रखने वाला संत क्या द्विजो से द्वेष कर सकता है ? कभी भी नहीं। फिर भी मानस के कवि के ख्याल से द्विजो में ही नहीं, प्रत्युत द्विजो के चरणों में प्रीति जब तक न हो तब तक वह सत ही कैसा ?११

यहा दो बातें ध्यान में रखने की हैं। पहली यह कि सतों का एक दल एक दीर्घ काल से यहा ब्राह्मणो की जन्मजात श्रेष्ठता का विरोध करता रहा है। इन श्रमणों के अनुसार ब्राह्मणत्व की सिद्धि जन्म से नहीं होती प्रत्युत् ब्राह्मणता निष्पाप होने का नाम है (वाहितपापोति ब्राह्मणो)। जो शात, दान्त, सयत, ब्रह्मचारी और अहिंसक है, वही श्रमण है, वही ब्राह्मण है और वही भिक्षु है। ब्राह्मणता के इस स्वरूप का मान बुद्धप्रमुख श्रमणों ने पूर्वकाल में किया और परवर्ती सत इसको दुहराते रहे। पर मानस के कवि को यह सह्य नहीं है कि गुणों के कारण कोई ऐसा ऊँचा बन जाये कि जन्मजात ब्राह्मणो पर अपनी गुणजात श्रमणता या ब्राह्मणता का सिक्का जमाये। मानस का कवि ऐसा कहने को पाप-युग का प्रभाव बतलाता है जिसके फलस्वरूप शूद्र लोग ब्रह्मज्ञानी को असली ब्राह्मण मानते हैं और स्वयं श्रम एव तप द्वारा उस ब्राह्मणता तक पहुँच कर जन्मजात ब्राह्मणो से कह बैठते है कि हम तुमसे हीन नहीं हैं—

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर आखि देखावहिं डाटि॥

नीची जातियो की बढाबढ़ी मानस के कवि को पसन्द नहीं है, क्योकि वे श्रुति-स्मृति-पुराण प्रतिपादित हिन्दू धर्म के समर्थक है, जिनमें इन लोगो का दबकर रहना ही धर्म माना गया है।

दूसरी बात यह कि श्रुति-स्मृति-पुराणो से चिपटे रहने के कारण उनके प्रवर्तको का स्थान ऊँचा मानना ही पडता है। इनके प्रवर्त्तक ब्राह्मण ही रहे हैं। ब्राह्मण लोग श्रमण-परम्परा से बहुत दूर के लोग हैं। भले ही सुदूरवर्ती पूर्व काल

---

११ सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान बिख्याता॥
विषय अलपट सील गुनागर। पर दुख दुख सुख सुख देखें पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहिं मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। साति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मइत्री। द्विज पद प्रीति धरम जनयित्री॥
ये सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात सन्त सन्तत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कंज॥
ते सज्जन मम प्रान प्रिय, गुनमंदिर सुख पुंज॥

में होने के कारण तथा ऋषि मुनि आदि के रूप में प्रसिद्ध होने के कारण उन्हें श्रमण-कल्प समझ लिया गया हो। यही लोग ब्राह्मणो के पुरखा और गोत्र प्रवर्तक रहे हैं। पूर्व युग में इनका अपार प्रभाव रहा है। ये और इनके वशज यह कभी नहीं चाहते कि उनका प्रभुत्व कम हो। 'मानस' का कवि इसी विचारधारा का समर्थक है। सतों का उत्कर्ष उनके गुणों के कारण होता है तो हो पर उसे ब्राह्मणों और ब्राह्मण-शास्त्रों, श्रुति, स्मृति, पुराणों की छत्रछाया में रहकर होना चाहिए। जो इनके साम्राज्य को तोडना चाहें तो उन्हें हाय कलियुगी! चिल्लाने के अतिरिक्त और किया ही क्या जा सकता है —

नहि मान पुरान न बेदहिं जो। हरि सेवक सन्त सही कलि सो॥

हम कबीर आदि सतों को देखते हैं कि वे जिस राम की उपासना करते है, वे न तो क्षत्रसहारी परशुराम हैं और न असुरारि राजाराम और न वे "सालिगराम" (=शालग्राम, विष्णु) ही हैं। प्रत्युत वह आतमाराम है।१२ पौराणिक परम्परा के राम-कृष्ण को वे सदेह की दृष्टि से देखते हैं और कहते हैं—बोलो भाई! किसको भगवान् मानें—कृष्ण को, हनुमान् को या शेष को? कृष्ण ने गोबर्धन उठाया, हनुमान् ने द्रोणाचल उठाया, पर शेष ने समूची धरती ही उठा ली है। फिर बडा भगवान् शेष हुआ या कृष्ण? राम ने समुद्र में सेतु बांधा, तब लका गये पर अगस्त्य मुनि उसका आचमन ही कर गये। अब दोनो में कर्ता कौन? सब लोग राम को जपते हैं क्योंकि वह सुखधाम है, पर स्वय राम ने वसिष्ठ को गुरु करके किसके नाम की दीक्षा ली।१३ श्रमण-परम्परा के हिसाब से अध्यात्मभाव से बाहर—अपनी काया से परे स्थित कोई तत्त्व उपास्य नहीं है। 'योग वासिष्ठ' में राम का कथन है कि "वह बुद्ध ही सुखी है जो परोपकार करने वाली, परदुःख से दुःखित होने वाली और अपनी आत्मशाति से शीतल हुई वाणी से युक्त है। न मै राम हूँ न मेरी कोई इच्छा है, न मेरी दुनिया के पदार्थो में कोई रुचि है। मै शात होकर बैठना चाहता हूँ, जैसे जिन (=बुद्ध) आत्मनिष्ठ हो बैठते हैं।१४

इस आतमाराम में रमण करने वालों और पौराणिक आख्यानो में प्रतिपादित राम को न मानने वालों के प्रति मानस-कवि के विचार बहुत अनुदार हैं। बालकांड के शिव-पार्वती-सवाद में पार्वती प्रश्न करती हैं कि परमार्थवादी जिस राम की उपासना करते हैं वे राम दशरथसुत हैं या और कोई? यदि राजपुत्र है तो ब्रह्म कैसे? और

---

१२ प्रथमें सालिगराम है दूजे फरसा राम। तीजे राजाराम है चौथे आतमराम॥
राम चारि हैं जगत में तीन राम व्यवहार। एक राम तत्त्व सार है ताको करो विचार॥

१३ गोवरधन धारे किसन दौना गिरि हनुमन्त। सेस सृष्टि सिर पर धरी इनमें को भगवन्त॥
सिंधु पाटि लका गये सीता के भरतार। मुनि अगस्त्य तेहि अचइगे दो में को करतार॥
तीन लोक रामहिं जपैं जानि मुक्ति को धाम। राम वसिष्ठहिं गुरु कियो सुन्यो कौन सो नाम

१४. परोपकारकारिण्या परार्तिपरितप्तया। बुद्ध एव सुखी मन्ये स्वात्मशीतलया गिरा।
नाहं रामो न मे वाछा भावेषु न च मे मन। शात आसितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा

यदि ब्रह्म है तो स्त्री के विरह में उनकी बुद्धि बावली कैसे हुई ? कृपया यह बात समझाइये। शिवजी ने समझाया तो कुछ नहीं। हां, इस प्रकार के लोगों को खरीखोटी जरूर सुनायी कि ऐसा कहने वाले 'अधम नर' हैं, 'पाखंडी' हैं, 'पिशाचग्रस्त' है, 'लपट', 'कपटी' है, 'विषयी' है, और न जाने क्या-क्या हैं।१५ संत के ऊपर वेदों और पुराणों का बोझ लादने का फल यह हुआ कि शिव को भी खरीखोटी सुनाकर अकुशल-कर्मपथ का भागी होना पड़ा।

मानस में वेदों और पुराणो को मूर्धन्य स्थान देने के कारण उसके सत को ब्राह्मणों, ब्राह्मणशास्त्रों और ब्राह्मण देवताओ की पराधीनता स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि 'मानस' का कवि ब्राह्मण-शास्त्रों की दुहाई देते हुए भी उनको बन्धन का कारण मानता है और देवताओं को स्वार्थी एवं कुटिल समझता है क्योंकि ये दोनों ही प्रवृत्ति-मार्ग के प्राण हैं। और मानस' के कवि का झुकाव निवृत्ति-मार्ग की ओर अधिक है। वह स्वय कहता है —

जड चेतनहिं ग्रथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
स्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥
छोरत ग्रथि जानि खगराया। विघ्न अनेक करइ तव माया॥
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहि आई॥
जौ तेहि विघन बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥
इन्द्री द्वार झरोखा नाना। तँह तँह सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥
जब सो प्रभजन उर गृह जाई। तबहिं दीप विज्ञान बुझाई॥
इद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। विषयभोग पर प्रीति सदाई॥

ब्राह्मण-शास्त्रों और देवताओं के प्रति यह दृष्टि रख कर पौराणिक आख्यानों में वर्णित राम को उपास्य मानने के कारण ब्राह्मण-शास्त्रों और उनके प्रवर्तक ब्राह्मणो की प्रभुता स्वीकार किये बिना 'मानस' के कवि का काम नहीं चला। और इसी कारण 'मानस'-प्रतिपादित सत महान् होते हुए भी ब्राह्मणों की प्रभुता और ब्राह्मण-शास्त्रो की विभुता से बद्ध एक अत्यन्त असमर्थ प्राणी बनकर रह गया।

---

१५. प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥
राम सो अवधनृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥
जो नृप तनय तौ ब्रह्म किमि नारि वरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥
उमा प्रश्न तव सहज सुहाई। सुखद सन्त सम्मत मोहि भाई॥
एक बात नहिं मोहि सुहानी। जदपि मोहवस कहेहु भवानी॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि स्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखडी हरिपद विमुख, जानहिं झूठ न सांच॥
अज्ञ अकोविद अध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी॥
लपट कपटी कुटिल विसेषी। सपनेहु सन्त सभा नहिं देखी॥
कहहिं ते बेद असम्मत बानी। जिन्हकें सूझ लाभु नहिं हानी॥

§§ ५. भारत के दार्शनिक विकास की पड़ताल

भारतीय दर्शनो में तीन वाद बहुत प्रसिद्ध है परिणामवाद सबसे पुराना है। आरम्भवाद और विवर्तवाद क्रमश परिणामवाद के बाद विकसित हुए है। कपिल ने ही परिणामवाद की सबसे पहले स्थापना की । प्रकृति के महान् अहकार, पाच तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रिया,* पाच महाभूत क्रमिक परिणाम है। कपिल, प्रकृति के परिणाम को मानने से परिणामवादी अवश्य कहे जा सकते है पर उनका पुरुष अपरिणामी है। पुरुष को प्रकृति से सर्वथा अछूता प्रतिपादन करने में ही उन्होंने परिश्रम किया है। एव वे प्रधानत नित्यवादी या शाश्वतवादी ही है। प्रकृति का परिणाम स्वीकृत करने में वे प्रकृति को मूल तत्त्व मानकर चले है । दूध के परिणाम दही में जैसे दूध से अभिन्नता रहती है, वैसे ही प्रकृति के विकार प्रकृति से अभिन्न रहते है। अभिप्राय यह है कि कार्यमात्र कारण से अभिन्न रहता है । एव कार्य-कारण में अभिन्न होने के कारण कारणावस्था में सत् ही होता है। सो कपिल के परिणामवाद का पर्यवसान एकसत्, नित्य या शाश्वत पदार्थ के मानने में ही होता है। योग भी साख्य के सब तत्त्वो को मानकर चलता है। ईश्वर उसमें अधिक माना गया है। जो पुरुष या आत्मा का बडा भाई है। साख्य आत्मवादी होते हुए भी अनीश्वरवादी था पर योग के साथ दोनो ही लगे है । जैनियो को ईश्वरवाद से परहेज जरूर है पर आत्मवाद (=जीववाद) उनके भी गले का हार है। इस प्रकार साख्य, योग और जैन तीनों ही एक नित्य या शाश्वत के चक्र में पडे है, उनका परिणामवाद या परिवर्तनवाद उस नित्य-शाश्वत आत्मा के लोक-परलोक सबध और मोक्ष प्रक्रिया में सहायता के लिए ही है। लोकायत, नित्य या शाश्वत के फेर में नहीं है पर उसकी निगाह बहुत मोटी है। वह परलोक से दूर भागता है और लोक में भी इतना अधिक भूतवादी है कि मन से बढकर उसे आख पर ही विश्वास है। मनन से उसे परहेज है और दार्शनिकता उसके लिए हवा में महल खडे करने से अधिक कोई और बात नहीं है। परिणाम या परिवर्तनशीलता हो तो हुआ करे, उसे खाने-पीने और मौज उडाने से फुरसत ही कहा जो उस पर मनन करे! पर इस मोटी निगाह-वाले में नित्य-शाश्वत के फदे से निकल भागने की समझ तो है ही जो कपिल, पतजलि और महावीर में नहीं पायी जाती जो बहुत ज्यादा ज्ञानवान् समझे जाते है।

बुद्ध ने आत्मवादियो का रग-ढग ठीक-ठीक पहचाना, लोकायत की मोटी निगाह को भी लक्ष्य में रखा। परिणामवाद को सकारणता और परिवर्तन के रूप में उन्होने उपस्थित किया । यह एक नयी दृष्टि थी। कार्य-कारण से न तो अनन्य है और न अन्य ही। जैसे अकुर न तो बीज ही है और न बीज से भिन्न ही। कार्य को कारण से अन्य मानने पर कारण का उच्छेद मानना पडता है तथा अनन्य या अभिन्न मानने पर कारण का शाश्वतवाद उपस्थित हो जाता है। बुद्ध कार्य को कारण से अन्य नहीं मानते सो लोकायत के उच्छेदवाद से बच जाते है । अनन्य भी नहीं

*ग्यारह इन्द्रिया अहकार की परिणति है। पच महाभूत पच तन्मात्राओं के परिणाम है। यह १६ प्रकृति के चरम परिणाम है जिनका फिर परिणाम नहीं होता ।

मानते अत: आत्मवादियों के शाश्वतवाद का भी झमेला नहीं रहता। कार्य और कारण के 'न तत् नान्यत्' अथवा 'अशाश्वत और अनुच्छेद' वाद जिस सकारणता और परिवर्तन के नियम पर विकसित हुए हैं वह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहलाता है। बौद्धों के पिछले सभी दार्शनिकवाद इसी प्रक्रिया के आधार पर है।

कौटिल्य से पूर्व साख्य, योग और लोकायत दर्शन व्यवस्थित हो चुके थे। वैसे ही नागार्जुन (१५० ई०) से पूर्व हीनयानी सौत्रान्तिक और वैभाषिक दर्शन विकसित और व्यवस्थित हो चुके थे। वैभाषिक दर्शन कनिष्क (७८ ई०) के समय में सम्पन्न विभाषा टीका के सहारे विकसित हुआ है। सौत्रातिक दर्शन टीका के सहारे नहीं बल्कि सूत्रान्त (=सूत्र=बुद्ध-उपदेश+अन्त=सिद्धात) या मूल बुद्धवचनो के आधार पर विकसित हुआ। दोनो सर्वास्तिवादी हैं। जो कुछ सत् या वर्तमान है उसे तीन कालों में स्वीकार करते हैं। जैसे कपिल ने पहले पहल गिनकर (=सख्या कर) पचीस तत्व गिनाये। ऐसे ही बाद में औरों ने भी अपनी मान्यताओ को गिनकर सख्या कर बताया। यद्यपि सख्या करने के कारण कपिल के दर्शन को जो साख्य नाम मिला वह सख्या करने पर भी पिछलो को न मिला, पर सख्या तो लोग करते ही रहे। साख्य ने जैसे पुरुष और प्रकृति के दो विभागो में पचीस तत्वों की व्याख्या की वैसे ही सौगततन्त्र में पाच स्कन्धो में बाह्य और आभ्यन्तर तत्वो को समझाया है। बाह्य जगत् को रूपस्कन्ध कहते हैं जिसमें पाच इन्द्रिय, पाच अर्थ, एक अविज्ञप्ति* और चार महाभूत (=पृथ्वी, अप, तेज, वायु) हैं। आभ्यन्तर जगत् चार स्कन्धों में विभक्त है। मन (=इन्द्रिय), धर्म (=मन के विषय) और मनोविज्ञान तथा पाचो इन्द्रियविज्ञान यह सब विज्ञानस्कन्ध के अन्तर्गत हैं। सुख, दुःख या तदभाव रूप जो अनुभव होता है, उसे वेदनास्कन्ध कहते हैं। रूप और विज्ञान का सबध होने से जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है तथा मन का धर्म से सबध होने पर जो मनोविज्ञान होता है वह विज्ञानस्कन्ध में अन्तर्भूत है पर इन छह विज्ञानो के विषयों की मन में जो विशेष रूप से जानकारी (=सज्ञा=सम्यक् ज्ञा=जानकारी) होती है वह सज्ञास्कन्ध है। जैसे आख से जो वर्ण और सस्थान का सामान्यतया ज्ञान होता है वह विज्ञानस्कन्ध के अन्तर्गत है पर बाद में 'यह नीला' है, 'यह पीला है' 'यह ह्रस्व है', 'यह दीर्घ है', 'यह पुरुष है', 'यह स्त्री है', इत्यादि जो विशेष रूप से या सम्यक् रूप से ज्ञान होता है वह सज्ञास्कन्ध है। इन चारो स्कन्धो के अतिरिक्त मन पर जो विषय ज्ञान की वासना अपनी छाप छोड जाती है वह सस्कार स्कध है। ये पाचो स्कन्ध सस्कृत हैं—अनित्य हैं—परिवर्तनशील हैं। इन पाचो स्कन्धो के अतिरिक्त और कोई सत् पदार्थ नहीं है। ये सब सत् है पर परिवर्तनशील होने से क्षणिक हैं। पाचो स्कन्ध

---

* अभिधर्मकोश १।११ में अविज्ञप्ति का लक्षण यों है —

"विक्षिप्ताचित्तकस्यापि यो ऽनुबन्ध शुभाशुभ.।
महाभूतान्युपादाय साह्यविज्ञप्तिरुच्यते ॥"

यह अविज्ञप्ति ब्राह्मण दार्शनिकों के 'अदृष्ट' से तुलनीय है।

है पर प्रतीत्य समुत्पन्न होने से —सकारणता और परिवर्तन के नियम में प्रतिबद्ध होने से नित्य नहीं है। यह बात सौत्रान्तिको और वैभाषिकों को मजूर है। पर बाह्य सत्ता के स्वीकार करने में दोनों की प्रक्रिया में कुछ अन्तर है। वैभाषिक बाह्य-वस्तु का प्रत्यक्ष मानते है। आख से नीले कपडे या घडे का जो ज्ञान होता है उस ज्ञान में तीन बातें ध्यान देने योग्य है। 'नील' (घट या पट) प्रमेय है। 'आख' साधन है। क्योंकि उसी से नील-ज्ञान होता है। 'नील-ज्ञान' प्रमा है। जिस विषय से ज्ञान उत्पन्न होता है वह विषय के सदृश ही होता है। जैसे नील (घट या पट) से उत्पन्न ज्ञान नील सदृश या नीलाकारक ही होता है। आख से जो नील (घट या पट) का ज्ञान होता है वह नील (घट या पट) के सवेदन का व्यवस्थापक नहीं होता प्रत्युत नील-ज्ञान में जो नीलाकारता या नील सारूप्य का अनुभव होता है वह नील (घट या पट) के संवेदन का व्यवस्थापक है। इस प्रकार नीलज्ञान 'प्रमा' में जो 'नीलाकारता या नील सारूप्य' है, वह 'प्रमाण' है जिससे नील (घट या पट) 'प्रमेय' का सवेदन होता है। एव सौत्रान्तिको के न्याय से 'नील-सारूप्य' से नील (घट या पट) का अनुमान होता है। सो सौत्रान्तिक बाह्यर्थानुमेयवादी है जब कि वैभाषिक बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी है। इतने अन्तर को छोड कर दोनों सर्वास्तिवादी है। इनकी सर्वास्तिता प्रतीत्य-समुत्पाद से प्रतिबद्ध होने के कारण अनित्य है—क्षणिक है।

सर्वास्तिवादी दर्शन जब देशव्यापी हो रहा था उसी समय नागार्जुन (१५०ई०) उत्पन्न हुए। दक्षिण कोसल में ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ। यह केवल दार्शनिक ही नहीं प्रत्युत रसायन-शास्त्री और योगी भी थे। एक पहुँचे हुए सिद्ध के रूप में इनकी प्रसिद्धि केवल यौगिक क्रियाओं के कारण न थी बल्कि रासायनिक सिद्धियो के कारण भी थी। सोया हुआ महायान इनके समय में ही इनके कारण जागा और पीछे अपनी महिमा में सभी बौद्ध सम्प्रदायों को आत्मसात् कर लिया। दार्शनिक जगत् में इन्होंने एक क्राति उपस्थित की थी। प्रतीत्य समुत्पाद मानने के कारण सर्वास्तिवादी सत्ता को क्षणिक मानते थे और उसे ही परमार्थ सत् समझते थे। नागार्जुन ने प्रतीत्य समुत्पाद की व्याख्या करते हुए बताया कि प्रतीत्य समुत्पाद अशाश्वत-अनुच्छेदवाद उपस्थित करता है (माध्यमिक कारिका १८।१०)। परिणाम के पीछे —परिवर्तन की ओट में —नित्यता देखना या अनित्यता देखना दोनों ही किनारे की बातें है, एकान्तवाद है। क्योंकि नित्यता देखने का अर्थ है शाश्वतवाद मानना और अनित्यता देखने का अर्थ है उच्छेदवाद मानना। सो प्रतीत्यसमुत्पाद का अभिप्राय नित्य—एकान्तवाद या अनित्य-एकान्तवाद मानने में नहीं है प्रत्युत नित्यानित्य—विनिर्मुक्त शुद्ध शून्यवाद मानने में है। शून्यवाद ही मध्यमा प्रतिपदा है*। हमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह स्वप्न जैसा ही है। जैसे जाग पडने पर स्वप्न नहीं रहता वैसे ससार भी मोह निद्रा टूटने पर नहीं रह जाता। इन्द्रजाल की माया दिखलाने वाला जानकार जैसे उस माया को कुछ भी (=सत् या असत्) नहीं समझता वैसे ही तत्त्व ससार को कुछ भी नहीं समझता। वह माया और मायामय पदार्थों को देखता है और जानता है

---

* माध्यमिकारिका १५–१०, २४।१८

कि ये सचमुच कुछ नहीं है।† सत् या असत्, नित्य या अनित्य दृष्टि का होना ही परमार्थ सत्य है। सर्वास्तिवादियो की सत्ता की जो अनित्यता दृष्टि है वह षड्-न्द्रियो से प्रत्यक्ष होने से सवृत्ति सत्य या व्यवहार सत्य है। तैर्थिको की नित्यता दृष्टि न तो सवृति सत्य ही है और न परमार्थ सत्य ही।

सत्ता को नित्य और अनित्य दोनों दृष्टियो से न देखने का अर्थ सत्ता या भाव को परमार्थ दृष्टि से अस्वीकार कर देना है। इस मान्यता से सर्वास्तिवादी दार्शनिक जो सत्ता की अनित्य दृष्टि को परमार्थ सत् समझते थे एक झटका लगा। तैर्थिक सत्ता को नित्य दृष्टि से देखते थे, परिणाम या परिवर्तन के कारण अनुभूत होती हुई अनित्यता की ओर चश्मपोशी करने के अभ्यासी थे। अब उनसे न रहा गया। उपनिषदों से ब्राह्मणो में जो तत्त्व-चिन्तन की धारा वह रही थी उसमें नागार्जुन के शून्यवाद ने बाध का काम दिया जिससे वह थोडा मुडकर बहने लगी। उसके घुमाव-फिराव के कुछ यत्न पहले भी हो चुके थे। लोकायत तो हमेशा ही फूहड शब्दों में श्रुति की खबर लिया करते थे। जैन भी श्रुति से परहेज रखना कल्याणकर समझते थे यद्यपि श्रोत्रियों की नित्य दृष्टि के कायल थे। साख्य, योग जो वेद के विरोधी न होते हुए भी श्रोत्रियो के मार्ग को "अविशुद्धिक्षयातिशय-युक्त" समझते थे, भले ही नित्य दृष्टि मानते थे। श्रोत्रियो के सामने दो बातें थीं—एक तो श्रुति-प्रामाण्य स्थापित करना। दूसरे, अपने दार्शनिक चिन्तन को इस रूप में उपस्थित करना जिसमें वह नित्य दृष्टि की रक्षा हो। नागार्जुन के बाद के दार्शनिकों को इसीलिए दो बातों में व्यग्र देखा जाता है एक तो अनित्य और अभाव (क्षणिक और शून्य) वादों का खण्डन करना और जैसे भी हो श्रुति-प्रामाण्य का मण्डन करना।

कणाद ने कार्य के कारण का होना आवश्यक माना और बताया कि कारण के गुण कार्य के गुणो के आरम्भक होते है।* कारण-कार्य के कणाद-सिद्धात में कार्य के गुण भले ही कारण से आते हो पर कार्य कारण से अभिन्न नहीं माना जाता था। कपलि जहा कार्य को अपनी कारणावस्था में सत् मानते थे वहा कणाद कार्य को अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् (= प्रागभाव) मानते हैं। अभिप्राय यह है कि कणाद कार्य-कारण के अभेद से अपनी नित्य-दृष्टि नहीं सिद्ध करना चाहते। इस विषय में उनकी अपनी प्रक्रिया है जो पहले के दार्शनिको के पास न थी। उन्होने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय छ पदार्थो में सत्ता का वर्गीकरण किया। इनमें से 'सामान्य' को कणाद ने नित्य-दृष्टि के सिद्ध करने का साधन बनाया। सामान्य क्या है? व्यक्तियो के परस्पर भिन्न होते हुए भी उनमें जो एक अभेद देखा जाता है वह सामान्य है। राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्त सब है भिन्न-भिन्न, पर उन्हें एक 'मनुष्य' शब्द से भी कहा जाता है। सो यह 'मनुष्यत्व' जिसके कारण भिन्न-भिन्न राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्त व्यक्तियो को मनुष्य कहा जाता है, 'सामान्य' है। यह नित्य है,

---

† महायानविंशक १७, १८

* "कारणाभावात् कार्याभाव" "नतु कार्याभावात् कारणाभाव" (वैशेषिक-सूत्र १।२।१, २) कारणगुणपूर्वक कार्यगुणो दृष्ट (वैशेषिक सूत्र २।१।२४)।

क्योकि देवदत्तादि के न रहने से भी नष्ट नहीं होता, व्यापक भी है क्योंकि व्यक्ति उससे व्यतिरिक्त नहीं होता। इसी प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में 'इद सत्' (=यह है) की प्रतीति होती है। इस सत् की प्रतीति से 'सत्ता' की सिद्धि होती है।† यह 'सत्ता' जो सामान्य के बल पर सिद्ध हुई नये ढग से नित्यवाद की स्थापना करती है।

वादरायण ने अपने से पहले की दार्शनिक प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन करते हुए श्रुतियों (उपनिषदों) की दार्शनिक पद्धति को एक व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया। अपन[illegible]र्शनिक प्रक्रिया को परिणाम के सहारे स्थापित किया। इनके परिणामवाद में पहले के परिणामवाद से कुछ मौलिक भेद है। क्योंकि पुराने परिणामवाद में सत्ता का परिणाम तो माना जाता था पर कपिल जीव (=पुरुष) को, पतजलि जीव और ईश्वर को, कणाद जीव और ईश्वर के अलावा मन, काल, दिशा, आकाश आदि को परिणाम से अछूता ही रखते थे। वादरायण ने सत्ता और चेतना का अलग-अलग विभाग नहीं किया और बताया कि "ब्रह्म" सत् भी है और चित् भी है। सत्ता और चेतना अविनाभूत है। इसी ब्रह्म के परिणाम से नाना रूप सृष्टि देखी जाती है। सम्पूर्ण अर्थ जगत को अपने कारण ब्रह्म से अनन्य है।

वौद्ध दार्शनिक पाचों स्कन्धों का परिणाम (=प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व) मानते थे। और उन्हें सत् और क्षणिक समझते थे। विज्ञान स्कन्ध, जिसके समकक्ष अन्य दार्शनिकों का आत्मा था प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से परिणाम में अछूता नहीं था, इधर वादरायण ने भी ब्रह्म, जो सत् चित् दोनो है, का परिणाम मान लिया तो बौद्ध दार्शनिकों के प्रतीत्यसमुत्पाद और वादरायण के परिणामवाद में एक प्रकार की सरूपता आ गयी फिर भी भेद बना रहा। वह भेद दो प्रकार का था। प्रथम तो वौद्ध दार्शनिको ने सत्ता और चेतना (=विज्ञान) को एक नहीं माना जब कि ब्रह्म परिणामवाद में सत्ता और चेतना दो वस्तुए नहीं है। दूसरा भेद था अनित्य-दृष्टि जब कि ब्रह्मवाद नित्यदृष्टि का व्यवस्थापक है। अब इस ब्रह्मवाद की विरोधी दो वातें थीं—एक तो वौद्धों की नित्य-विरोधी दृष्टि, दूसरी चेतन-सत्ता (आत्मा) को परिणाम से अस्पृष्ट रखने की दृष्टि। वादरायण ने दोनों के निराकरण का यत्न किया।

वादरायण के सामने सर्वास्तिवादियो और माध्यमिको दोनों की नित्य-विरोधी दृष्टिया थीं। उन दृष्टियों को सामने रखते हुए उन्होने यह प्रमाणित करने पर वल लगाया कि विना किसी नित्य या स्थिर वस्तु के परिणाम सम्भव नहीं है। कारण और कार्य का पूर्वापरभाव होता है। कारण पहले और कार्य पीछे होता है। कार्य की उत्पत्ति के क्षण में कारण का निरोध हो जाता है। सो कार्योत्पत्ति से पूर्वक्षण में जव कारण निरुद्ध ही हो गया तो कार्य के प्रति उसका हेतुभाव नहीं रहा। यदि यह मान लो कि कार्योत्पत्ति के क्षण तक कारण

† 'सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता' (वैशेषिकसूत्र १।२।७)

रहता है तो एक तो कारण और कार्य का पूर्वापर भाव नहीं रहता दूसरे यह दावा कि सब कुछ क्षणिक है खारिज हो जाता है ।* यह तो हुई सर्वास्तिवादियो की बात । बचे माध्यमिक, पर उनकी बात बडी पेचीदा थी । नित्य और अनित्य दोनों दृष्टियों से उन का सबध न था । उनके लिए सत्ता की नित्यता और अनित्यता से झगडना सपने में देखी गयी लक्ष्मी के लिए बेकार लडना था। बादरायण ने उनके प्रति कहा कि सब तरह सोचने पर भी आप की बात कैसे उपपन्न होती है सो तो मेरी समझ में नहीं आया पर आंख से आप की बात में विरोध है। सत्ता की उपलब्धि तो हो ही रही है फिर नित्यानित्य दृष्टि से सत्ता को न देखने का अर्थ सत्ता को न मानना ही है जो समझ से बाहर की बात है ।†

बादरायण परिणामवाद मानते थे पर परिणामवाद उनकी समझ में ठीक-ठीक न आया था । ठीक-ठीक परिणामवाद को सबसे पहले नागार्जुन ने ही समझा था। परिणाम का नित्य दृष्टि से कोई मेल नहीं है क्योंकि नित्यता का अर्थ ही कूटस्थता या परिणाम का न होना है । बाद में शंकर को यह बात समझ में आयी। उन्होंने देखा कि परिणामवाद मानने से नित्यता की सिद्धि करना असभव है अत उन्होंने परिणामवाद को विवर्तवाद में परिणत किया। परिणति को मिथ्या मानना विवर्तवाद है। जब परिणाम ही मिथ्या हो गया तो 'नित्यता' को किसी से डर न रहा । सत्ता की अनित्य-दृष्टि के साथ भी परिणामवाद की संगति नहीं बैठती क्योंकि 'अनित्य' का अर्थ है सत्ता का विनाश या उच्छेद मानना । जब सत्ता उच्छिन्न ही हो गयी तो परिणाम अब हो तो किसका और कैसे ? एवं परिणाम न तो शाश्वतवाद से और न उच्छेदवाद से ही सम्बन्ध रखता है प्रत्युत् वह अशवाश्वत-अनुच्छेदवाद है, नित्यानित्य विनिर्मुक्त शून्यवाद है ।

कपिल प्रकृति का परिणाम मानते थे। प्रकृति चेतन न थी ? बौद्ध सर्वास्तिवादी दार्शनिक परमाणुओ का परिणाम मानते थे, ये परमाणु भी चेतन न थे । कणाद ने सर्वास्तिवादियों से जो परमाणुवाद लिया उसे भी चेतन नहीं माना किन्तु कपिल की प्रकृति की भाति उन्हे नित्य माना जब कि बौद्धो के परमाणु क्षणिक थे। बादरायण का ब्रह्म कोरा सत् न था पर चित् भी था जब कि परमाणु और प्रकृति कोरे सत् थे। अतः बादरायण को चेतन सत्ता का परिणाम सिद्ध करने के लिए जो लोग कोरी सत्ता का परिणाम मानते थे उनके निराकरण की अपेक्षा मालूम हुई। कणाद परमाणुओ के सयोग और वियोग से सर्ग एव लय का होना मानते थे । सयोग और वियोग दोनों है कर्म-सापेक्ष । बिना क्रिया या व्यापार के परमाणुओं का सयोग-वियोग संभव नहीं है। और

---

* "उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् । असति प्रतिज्ञोप रोधो यौ गपद्यमन्यया ।" (ब्रह्मसूत्र २।२।२०, २१) ।

† "नाभाव उपलब्धे । सर्वथानुपपत्तेश्च ।" (ब्रह्मसूत्र २।२।२८, ३२)। शंकर ने विज्ञानवाद के खडन में पूरे (२।२।२८, ३२) अभावाधिकरण को लगाया है। यद्यपि सूत्रार्थ बिना खींचातानी के शून्यवाद की ओर चला जाता है ।

कर्म के लिए कोई दृष्ट कारण है नहीं अत अदृष्ट को कारण मानना होगा। पर अदृष्ट के अचेतन होने के कारण उसमें सामर्थ्य नहीं है कि परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न कर सके।* कपिल की प्रकृति भी अचेतन है पर उसके प्रति बादरायण अपना यह तर्क न उपस्थित कर सकते थे क्योंकि कपिल के मत से प्रकृति सर्व-बीज अर्थात् सब की उपादान कारण और प्रवृत्ति स्वभाववाली है। अत बादरायण ने यह तर्क उपस्थित किया कि प्रवृत्ति अचेतन का धर्म नहीं है। प्रकृति अचेतन है अत उसमें प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती।† और बिना प्रवृत्ति परिणाम हो नहीं सकता।

ऊपर बहुत ही सक्षेप में हमने भारत की दार्शनिक प्रवृत्ति को देखा है। उसमें एक क्रमबद्ध विकास है। लोकायत सत्ता से चेतना की उत्पत्ति और उसका विनाश मानते थे। कपिल ने सत्ता और चेतना दोनों को अलग-अलग माना जिसमें सत्ता को परिणामी और चेतना को अपरिणामी माना। बौद्ध दार्शनिकों ने भी सत्ता और चेतना को अलग-अलग माना पर परिणामी प्रतिपादित किया। बादरायण ने सत्ता और चेतना को अलग-अलग न मानकर अभिन्न माना और 'ब्रह्म' शब्द द्वारा प्रकाशित किया। पिछले दार्शनिकों की भाति परिणाम इन्होंने भी माना।

वसुबन्धु ने इन सब दार्शनिक गतिविधियों को देखा और एक नयी बात कही। इन्होने कहा कि सत्ता के न मानने से भी केवल चेतना से भी काम चल सकता है। चेतना के लिए बौद्ध दार्शनिकों का विज्ञान शब्द है और ब्राह्मण दार्शनिको का आत्मा शब्द है। आत्मा और विज्ञान दोनों एक ही नहीं है। आत्मा नित्य या कूटस्थ है और विज्ञान परिवर्तनशील। सो वसुबन्धु के इस विज्ञानवाद में नित्यात्मवाद की झलक नहीं है। इन्होंने सब कुछ विज्ञान का परिणाम कहा और बताया कि 'सत्ता' जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, सब कुछ विज्ञान ही विज्ञान है।

आलय, मन और प्रवृत्ति भेद से विज्ञान तीन प्रकार का है। कपिल की प्रकृति जैसे सर्व बीज (=सम्पूर्ण कार्य जगत् की उपादान) है, बादरायण का ब्रह्म जैसे सर्वबीज है वैसे वसुबन्धु का यह विज्ञान सर्वबीज है। सर्वबीज होने के कारण ही मूल विज्ञान को आलय विज्ञान कहते है। सभी धर्मों का यह कारण रूप से आलय (=स्थान या आश्रय) होने के कारण मूल विज्ञान 'आलय' कहलाता है। आलय विज्ञान के सतान से प्रवृत्त हुआ विज्ञानान्तर जो सत्कायदृष्टि (नित्यदृष्टि, आत्मदृष्टि) मान (=अहकार), मोह और राग नामक क्लेशो से युक्त होने के कारण बन्धन का कारण है 'मन' कहलाता है। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म (=सभी मानसिक भावनाए) इन छह विषयों की जो प्रतीति है वह 'प्रवृत्ति विज्ञान' है। जैसे जल में तरगें (पवनादिजनित क्षोभवश) उत्पन्न होती रहती है वैसे ही ये विज्ञान भी आलय विज्ञान में प्रत्ययवश या कारणवश सब के सब एक साथ या पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते रहते है।**

---

* उभयथापि न कर्म अतस्तदभाव (ब्रह्मसूत्र (२।२।१२)

† प्रवृत्तेश्च (ब्रह्मसूत्र २।२।२)

** त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका, २, ५, ८, १५

इन विज्ञानों में प्रवृत्ति-विज्ञान के लिए वाह्य सत्ता माननी पडती है, किन्तु वसुबन्धु कहते हैं कि इनके लिए भी वाह्य सत्ता की अपेक्षा नहीं। रूप आदि वस्तुत हैं, इसलिए उनकी प्रतीति होती है। यह वात मिथ्या है। जैसे तिमिर रोगी को केश, जाल आदि जो समसुच उसके सामने नहीं हैं प्रतीत होते हैं, वैसे ही अर्थ-सत्ता न होते हुए भी रूपादि की प्रतीति हुआ करती है। अतएव विज्ञान के अतिरिक्त और कोई वाह्य सत्ता नहीं है।†

पर विज्ञान के अतिरिक्त वाह्यसत्ता न मानने से कितनी ही आपत्तिया उठ खडी होती हैं। विज्ञान के अतिरिक्त रूपादि वाह्य अर्थ हैं क्योंकि विना वाह्य अर्थ के चार नियम नहीं होने चाहिए :—

(१) देश-नियम—जिस स्थान में रूपादि पदार्थ होते हैं वहीं रूपादि विज्ञान भी देखे जाते हैं। जहां नहीं होते वहा रूपादि विज्ञान की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। सो यह देश या स्थान का नियम तभी वनता है जव रूपादि वाह्य पदार्थ हों। यदि वाह्य-पदार्थ न माने जाए तो सर्वत्र ही रूपादि की प्रतीति होनी चाहिए। पर होती नहीं। अत देश का नियम होने से वाह्यसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(२) काल-नियम—जिस समय विशेष में रूपादि अर्थ कहीं पर होते हैं उसी समय विशेष में रूपादि विज्ञान उत्पन्न होते हैं। सर्वदा सव समय में उत्पन्न नहीं होते। अत. जान पडता है कि रूपादि वाह्यसत्ता के विना रूपादि विज्ञान उत्पन्न नहीं है। इस प्रकार विज्ञानोत्पत्ति के साथ काल का नियम होने से वाह्य-सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(३) सतान-नियम—जहा जिस समय में रूपादि अर्थ होते हैं वहां सभी अविकलेन्द्रियों को उनकी प्रतीति होती। ऐसा नहीं होता कि किसी को हो और किसी को न हो जैसा कि तिमिर रोगी को तो केश-जाल आदि दिखायी पडते हैं पर औरों को नहीं। यदि विना रूपादि वाह्य अर्थ के ही विज्ञान की उत्पत्ति होती तो वह तैमिरिक की असदर्थ-प्रतीति की भाति कुछ को होती और कुछ को न होती, पर रूपादि अर्थ जहा जव होते हैं उनकी सवको ही प्रतीति होती है, अत विज्ञानोत्पत्ति में सबके साथ सतान-नियम (प्रतीति का सिलसिला) का सवध होने से वाह्यसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(४) कृत्य-क्रिया-नियम—रूपादि वाह्य अर्थों से ही शारीरिक कृत्य हो सकते हैं। स्वप्न में देखे गये अन्न-जल से शरीर की भूख-प्यास नहीं मिट सकती। अत कोरे विज्ञान मात्र से दुनिया का काम नहीं चल सकता। दुनिया की कृत्य-क्रिया के लिए रूपादि अर्थ अपेक्षित हैं। इस प्रकार भी वाह्यसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

एव इन चार नियमो की पडताल करने से जान पडता है कि विज्ञान से व्यतिरिक्त भी वाह्य रूपादि-अर्थसत्ता है।*

† विंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका, १। * विंशिका २।

वसुबन्धु ने इन आक्षेपो का समाधान करते हुए कहा कि बाह्य पदार्थ के अभाव में भी देश, काल, सतान और कृत्य-क्रिया के नियम देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए स्वप्न को लीजिये। स्वप्न में बाह्य अर्थ के बिना ही किसी स्थान विशेष में (न कि सर्वत्र) बाग-बगीचे, नदी-तालाब, सुन्दरियां दिखाई पड जाती है और वहां भी किसी समय दिखाई पड जाती हैं, हमेशा नहीं। यह स्वप्नदृश्य कृत्य-क्रिया करने में भी समर्थ होते हैं। रही यह बात कि, बाह्य पदार्थ की प्रतीति सभी अवि-कलेन्द्रियों को होती है पर बाह्यार्थ के बिना तिमिर–रोगी आदि को जो पदार्थ प्रतीति होती है वह सबको नहीं, अत· बाह्यार्थ मिथ्या सिद्ध न हुआ। सो इस युक्ति में भी जान नहीं है। प्रेतो को मल-मूत्र, पूय आदि से परिपूर्ण नदी दिखाई पडती है यद्यपि वस्तुतः वह होती नहीं। नारकी जीवों को भी इसी प्रकार भयकर दृश्य दिखाई पडते हैं। यम-किंकरों के दर्शन भी उन्हे होते हैं और उनसे वे दण्ड भी पाते है, यद्यपि ये सब वस्तुत नहीं होते।* इन आगममूलक दृष्टान्तों को यदि छोड .दें तो स्वप्न का ही उदाहरण काम दे सकता है क्योंकि बाह्य पदार्थ के बिना ही सबको सपने दिखाई पडते है, और स्वप्न काल में सभी को बाह्य पदार्थ के विना प्रतीति होती है, ऐसा नही कि किसी को हो और किसी को नहीं। एव बाह्य पदार्थ के बिना ही देश, काल, सतान, और कृत्य क्रिया की व्यवस्था हो जाती है। अत इन चार नियमों के लिए बाह्य–सत्ता का मानना जरूरी न रहा।

सर्वास्तिवादी बाह्य–सत्ता पर बहुत जोर देते थे, कणाद और अक्षपाद भी उसके हामी थे। तीनों ही परमाणुओ को मानते थे। बाह्य पदार्थ परमाणुओं के सयोग से वनते हैं। परमाणुरूपी अवयवो से बना पदार्थ परमाणुओं का समूहमात्र ही नहीं है प्रत्युत उन अवयवों से विलक्षण वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है जो 'अवयवी' कहलाता है। परमाणुओ को सयोग तथा अवयवी को कणाद और अक्षपाद दोनों मानते है। परमाणुओं के सयोग से एक विलक्षण अवयवी बन जाता है। यह बात सर्वास्तिवादी नहीं मानते। उनके मत से परमाणु-पुज ही पदार्थ हैं। कुछ भी हो इन सब के मत से परमाणु निरवयव है। वसुबन्धु को इन दार्शनिको पर बडा तरस आया। इन्होने कहा कि जिन परमाणुओं के बूते बाह्य-सत्ता सिद्ध करने चले हो पहले एक बार उनको ही सभाल लो। सयोग सावयव का देखा जाता है। परमाणुओ को एक ओर निरवयव मानना और दूसरी ओर उनका सयोग मानना यह कैसे बन सकता है।† तुम्हारे मत से परमाणु सावयव हो नहीं सकते और निरवयव का सयोग नहीं हो सकता और विना सयोग हुए अवयवों से अवयवी भी नहीं बना, सो कणाद और अक्षपाद की बाह्य–सत्ता जो अवयवी के सिद्ध होने पर निर्भर थी परास्त हो गयी।

वसुबन्धु ने बाह्य–सत्ता को मिथ्या सिद्ध करने में जो परिश्रम किया उससे परवर्ती दार्शनिको को बडा बल मिला। गौडपाद ने विज्ञानवाद की सिद्धि के

---

* विंशिका ६, ४। † विंशिका १३ का उत्तरार्ध।

लिए किये गए वाह्य-सत्ता के निराकरण को अद्वैतवाद का बहुत उपकारक समझ कर मान लिया ।† विज्ञानवादियों और अद्वैतवादियो में है भी बहुत समता । नागार्जुन जहा सब कुछ (यहा तक कि चेतना बौद्ध-सम्मत विज्ञान तथा तैर्थिक-सम्मत आत्मा) को भी सवृत्ति-सत्य मानते थे वहां इन दोनों ने उसे परमार्थ-सत्य कहना शुरू किया । एक ने उसे विज्ञान शब्द से कहा और दूसरे ने ब्रह्म से । दोनों ने उसके अतिरिक्त वाह्य सत्ता को मिथ्या माना । दोनों ने उसे अनुच्छिन्न या नाश न होने वाला कहा पर एक अन्तर बना रहा । विज्ञान था परिवर्तनशील क्योकि उसे प्रतीत्यसमुत्पन्न माना जाता था और ब्रह्म था कूटस्थ यद्यपि वह भी "जन्माद्यस्य यत" (१।१।२) "आत्मकृते परिणामात्" (१।४।२६) में वादरायण द्वारा परिणामशील कहा जा चुका था । सो इस ब्रह्म के परिणाम की नये ढग से व्याख्या करने की जरूरत पड़ी । नागार्जुन ने परिणामवाद (=प्रतीत्यसमुत्पाद) के आधार पर सब कुछ को अशाश्वत और अनुच्छिन्न कह चुके थे । अनुच्छेद अंश से तो अद्वैतवादी सहमत थे पर अशाश्वत अश उनकी नित्यदृष्टि का काटा था अत प्रतीत्यसमुत्पाद या परिणामवाद जो कारण-कार्य का नियम था और नियम को सभी परमार्थ समझते थे मिथ्या करार दे दिया गया,* और वह बेचारा अब सवृतिसत्य मात्र रह गया । परिणाम या प्रतीत्य समुत्पाद माना गया पर विज्ञान-वादियों ने उसे परमार्थ सत्य माना अत उन्हें विज्ञान को क्षणिक या परिवर्तनशील मानना पडा। ब्रह्मवादियों ने उसे मिथ्या माना सो उनका 'ब्रह्म' परिवर्तन से अछूता कूटस्थ बना रहा । अस्तु, इस दृष्टिभेद के कारण विज्ञान और ब्रह्म जो एक होने जा रहे थे अलग-अलग बने रहे पर अलग होते हुए भी ब्रह्मवाद पर जो बौद्धदर्शन की अमिट छाप पडी वह न मिटाई जा सकती थी ।

विज्ञानवादियो ने विज्ञान के अतिरिक्त वाह्य-सत्ता का निषेध तो कर दिया पर व्यवहार बिना वाह्य-सत्ता के चल नहीं सकता था। सो उन्होंने विज्ञान के अतिरिक्त यच्च यान्वमात्र व्यवहार को औपचारिक माना। अन्धे को यदि कोई 'सुलोचन' कहे, मूर्ख को 'बृहस्पति' कहे, वाहीक को 'बैल' (गौर्वाहीक.) कहे या गवार को 'गधा' कहे तो इन प्रयोगों को औपचारिक कहना होगा क्योंकि अन्धे आदि में सुलोचनत्व आदि धर्म नहीं है और जो जहा नहीं, उसका उसमें प्रयोग करना उपचार कहलाता है ।†† आत्मा (=अपनापन, मैं और मेरापन) तथा धर्म (=अपने से पृथक् सब पदार्थ) दोनों की सत्ता औपचारिक है क्योंकि विज्ञान के परिणाम के अतिरिक्त दोनो हैं ही नहीं। विज्ञान के अतिरिक्त "और सब कुछ" मिथ्या है और उसी मिथ्या की व्यवहार सिद्धि के लिए यह अन्य मिथ्या-न्तर है "उपचार", जिसे आगे चलकर शकर ने 'अध्यास', 'अविद्या' और 'माया' कहा । विज्ञानैकत्ववाद सिद्ध करने के लिए जिस जगत् को वसुवन्धु ने

† गौडपादकारिका ४।२५ ।

* गौडपादकारिका ३।२५। †† त्रिंशिका १ पर 'उपचार' शब्द की व्याख्या करते स्थिरमति—"यत्र यच्च नास्ति तत् तत्रोपचर्यंते ।

मिथ्या कहा उसने ही वसुबन्धु को अविद्या (=उपचार) में फेंक कर अपनी सिद्धि करवा ही ली।

यहा बौद्ध दर्शन के विकास की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, उसका श्रेय उस प्राचीन-सामग्री को है, जो बहुत कुछ हमारे युग में उपलब्ध हुई है। वस्तुत इसके सहारे बौद्ध धर्म एव दर्शन तथा उसके साहित्य का नये सिरे से अभिज्ञान हुआ है।

इस नये अभिज्ञान एव नयी साहित्यिक सम्पत्ति ने हमारी जानकारी में एक नया परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है। कुछ ही दिन पहले हम बुद्ध तथा उसके धर्म को बहुत गलत समझ रहे थे, बौद्ध तत्त्वचिंतन की हमें कितनी गलत जानकारी थी, यह हम आज समझ रहे है। पर हम तब विवश थे, तब हमारे पास केवल बौद्ध विरोधियों ने जो कुछ बौद्ध धर्म और दर्शन के बारे में बतला रखा था उसके अतिरिक्त हमारे पास जानने को कुछ न था। पर आज हम उतने अकिंचन नहीं हैं। आज बुद्ध के धर्म और दर्शन की वह सामग्री हमारे पास है कि हम उसे ठीक-ठीक समझ सकते है।

शकर ने बुद्ध को 'अनाप-शनाप बोलने वाला दुनिया का दुश्मन'१ कहा! कुमारिल ने बुद्ध के उपदेश को 'कुत्ते की खाल में पडे दूध'२ जैसा निकम्मा बताया! जिसके पास जबान है उसे बोलने से कौन रोक सकता है? फिर भी इस प्रकार के फूहडपने का जवाब किसी भले आदमी के पास हो ही क्या सकता है? आज जिसने बुद्ध के धर्म और विनय की सरसरी तौर पर भी पडताल की है वह उन्हें दुनिया का गुमराह करने वाला नहीं कह सकता। बुद्ध का धर्म बिल्कुल स्पष्ट है। उसमें विरोध या असगतियां नहीं है। करुणाकुल बुद्ध ने साफ-साफ कहा है 'विजय से वैर पैदा होता है, पराजित दुखी होता है, जो जय और पराजय को छोड चुका है उसे ही सुख है, उसे ही शाति है।'३ जानकारो ने इसीलिए कहा है: "तथागत ने थोडे में केवल 'अहिंसा' के तीन अक्षरों में धर्म का वर्णन किया है।"४ क्या सचमुच यह गुमराह करने वाला रास्ता है?

कर्म और उसके फल को वैदिक, बौद्ध और जैन तीनों मानते हैं। कर्मफल का देने वाला ईश्वर है और कर्मफल का भोगनेवाला जीव है। सांख्यों और जैनों को कर्मफल के भोग में ईश्वर का हस्तक्षेप मजूर नहीं है। वेदान्ती भी इस प्रकार के हुकूमत करने वाले ईश्वर को नहीं मानते। हा, अक्षपाद और कणाद को इस प्रकार के ईश्वर की जरूरत है। ईश्वर की बात यहां छोड देनी

---

१ 'सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्व प्रद्वेषो वा प्रजासु।" (ब्रह्म-सूत्र २।२।३२ पद)।

२. सन्मूलमपि अहिंसादि श्वदतिनिक्षिप्तक्षीरवदनुपयोगि।' (तन्त्रवार्तिक)।

३ 'जय वेर पसवति दुख सेति पराजितो उपसन्तो सुख सेति हित्वा जयपराजय"॥ धम्मपद १५।५

४ 'धर्म समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागता।' चतुशतक।

है, केवल उसके गुलाम 'जीव' की कहानी पर ध्यान देना है। बौद्धों को छोड़ कर सभी जीव को एक टिकाऊ जीव समझते हैं। दार्शनिक भाषा में कहेंगे कि जीव नित्य है। जीव शब्द भी यहां छोड़ देना चाहता हूँ। इसके लिए 'आत्मा' शब्द को लेना है। आत्मा का अर्थ कुछ विस्तृत है, जो लोग ईश्वर को मानते हैं उनका ईश्वर भी इसमें शामिल हो जाता है। वेदान्ती आदि दार्शनिक जो आत्मा के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की उससे अलग सत्ता नहीं मानते उनका भी इसी शब्द से काम चल जाता है। और बौद्ध लोग तो आत्मा को मानते ही नहीं वे भी इसी में 'न' जोड़ कर काम चला लेते हैं।

कर्म है और उसका फल है पर उसका आश्रय कोई टिकाऊ या स्थिर किंवा नित्य आत्मा नहीं है, यह बुद्ध की मान्यता है। आत्मा क्या, सत्ता मात्र में जो सत् या स्थिरता का भान होता है, वह असल में नहीं है। बुद्ध ने इसे इस प्रकार समझाया है बीज होने पर अंकुर होता है पर बीज ही अंकुर नहीं है और बीज से पृथक् अथवा उससे भिन्न कुछ और वस्तु भी अंकुर नहीं है। अत बीज शाश्वत स्थिर टिकाऊ या नित्य नहीं है क्योंकि उसका अंकुर रूपमें परिवर्तन देखा जाता है। वह उच्छिन्न या नष्ट भी नहीं होता क्योंकि अंकुर बीज ही का तो रूपान्तर है।[१] यह एक उदाहरण है जिसके द्वारा सिद्धांत का स्पष्टीकरण है। बुद्ध का अपना मत है कि न तो कुछ भी अशाश्वत है और न कुछ भी उच्छिन्न होता है। प्रत्येक वस्तु अपने कारण से उत्पन्न होती है। कार्य कारण से न तो अन्य या भिन्न ही होता है और न अनन्य ही, कार्य कारण से अन्य होता तो कारण का उच्छेद मानना पड़ता, यदि कार्य अनन्य अर्थात् कारण-रूप ही होता तो उसे शाश्वत या नित्य मानना पड़ता। पर दोनो बातें नहीं हैं, इसलिए न कोई शाश्वत है और न किसी का उच्छेद होता है। 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' बुद्ध का दार्शनिक सिद्धांत है। यह सकारणता और परिवर्तन के नियम के आधार पर विकसित हुआ है। इस नियम को प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं। जिसका अक्षरार्थ है. समुत्पाद.=उत्पत्ति, कार्यमात्र का होना; प्रतीत्य (एव भवति)=कारण के (प्राप्त) होने पर ही होता है। बुद्ध के बाद जितने भी बौद्ध दार्शनिक हुए वे "प्रतीत्यसमुत्पाद' तथा 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' के सहारे ही अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त करते रहे हैं। सब कुछ ही जब अशाश्वत और अनुच्छिन्न है तब 'आत्मा' भी इसका अपवाद नहीं है। इस बेटिकाऊ, पर न नष्ट होने वाले, आत्मा को बौद्ध चित्त या विज्ञान कहते हैं।

जिस अशाश्वतानुच्छेदवाद की पद-पद पर बौद्ध दर्शनों में चर्चा है उसको पूर्वपक्ष के रूप में कहीं भी ब्राह्मण और जैन दर्शनों ने छुआ तक नहीं। य बात बड़े आश्चर्य में डालने वाली है। जहा भी बौद्ध दर्शन की आलोचना की ग है वहा सर्वत्र उसे उच्छेदवादी दिखलाया है—अभाववादी बताया है। शंकर

---

१ बीजस्य सतो यथांकुरो न च यो बीजु स चैव अंकुरो।
न च अन्यु ततो न चैव तदेवमनुच्छेद अशाश्वत धर्मता।—ललितविस्तर।

चार्य साफ ही सौगत दर्शन का अभिप्राय समझाते कहते हैं 'सौगत दर्शन ठीक नहीं क्योंकि वे किसी कारण को स्थिर एव अनुगत नहीं मानते, जिसका निष्कर्ष है अभाव से भाव की उत्पत्ति को मानना,'* सौगत दर्शन को शकर 'वैनाशिक' कहते हैं यद्यपि सौगतों ने जहा किसी वस्तु को शाश्वत नहीं माना है वहा उसका विनाश या उच्छेद मानने से भी इनकार कर दिया है। यह एक नमूना है और इस प्रकार के अनेको नमूने हैं जिनमें इस प्रकार गलत रूप में बौद्ध दर्शन को उपस्थित किया गया है । खैर, विरोध करने में अब तक बुद्ध को उच्छेदवादी या वैनाशिक बनाया गया सो बनाया गया पर अब उन्हें उच्छेदवादी या वैनाशिक नहीं कहा जा सकता।

आज हम कह रहे हैं कि बुद्ध वैनाशिक या उच्छेदवादी नहीं थे पर क्या इस पर वे लोग विश्वास करेंगे या मान लेगें जो बुद्धि पर पोथी धर कर तर्क करने बैठते हैं। तर्क में पोथी-पत्रा काम नहीं दिया करता । यदि देता तो अपने तत्त्व या मतलब के बचाव के लिए जल्प और वितण्डा की जरूरत ही क्या थी ?† जो लोग छल-बल से, जल्प और वितण्डा से दूसरों को चुप कर देना ही तत्त्व-रक्षा का साधन समझते हैं, उनसे इस बात की आशा करना भूल है कि वे दूसरे के मत को सही-सही देख सकेंगें । उनकी यही कौन सी-कम भलमनसाहत है जो जल्प और वितण्डा को तत्त्वरक्षा का साधन कहते हुए मुह पर थप्पड लगा देने को तत्त्वरक्षा का साधन नहीं कहा । इस छली मनोवृत्ति के कारण बौद्ध जिस रूप में अपने दार्शनिक सिद्धात मानते हैं उनको उसी रूप में उपस्थित कर आलोचना नहीं की गयी, फलत. उन आलोचनाओं के द्वारा हम जिस रूप में बौद्ध दर्शन की झलक पाते हैं वह उसके स्वरूप से सर्वथा उलटी है ।

हम जिस प्रतीत्यसमुत्पाद और उसके आधार पर विकसित अशाश्वत-अनुच्छेदवाद का जिक्र कर चुके हैं उसके आधार पर ही पिछली बौद्ध दार्शनिक प्रक्रिया ठहरी हुई है । विभाषा और उसके मानने वाले वैभाषिक सम्प्रदाय का ऊपर जिक्र हुआ है । इन्होंने बुद्ध वचन के अनुसार सत्ता को प्रतीत्यसमुत्पन्न तथा अशाश्वत और अनुच्छिन्न कहा । सत्ता का वर्गीकरण पाच स्कन्धों में है । बौद्ध मान्यता के अनुसार कोई 'एक' वस्तु नहीं है प्रत्युत जहा 'एक' का भान होता है वहा 'अनेकों' का समूह' हुआ करता है । वृक्ष 'एक' पदार्थ है पर वह है क्या ? जड, तना, शाखा और पत्र आदि का समूह ही तो है । हरएक पदार्थ का यही हाल है। इस भाव को व्यक्त करने के लिए ही स्कन्ध शब्द का प्रयोग होता है। स्कन्ध का अर्थ राशि या ढेर है । प्रत्येक वस्तु अनेकों का एक ढेर है उसमें जो 'एक' की प्रतीति है वह व्यवहारत ठीक हो सकती है पर परमार्थत है ही नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने अवयवो का स्कन्ध या ढेर है । नैयायिक पदार्थ को अव-

---

* अनुपपन्नो वैनाशिकसमय, यत. स्थिरमनुयायिकारणमनभ्युपगच्छताम-भावाद्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्यते'। ब्रह्मसूत्र २।२।२६ पर शारीरकभाष्य ।

† तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कटक-शाखावरणवत् । न्यायसूत्र ४।२।५०

पदों का ढेर न मान कर अवयवों से अतिरिक्त एक अवयवी की कल्पना करते हैं। अवयवी को मानकर भी अक्षपाद ने मान लिया है कि 'अवयवी का अभिमान दोष अर्थात् राग, द्वेष और मोह का कारण है।' (न्यायसूत्र ४।२।३) । यद्यपि अवयवों से व्यतिरिक्त अवयवी की सत्ता असिद्ध है। 'एक' की प्रतीति से अवयवी की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि 'एक' अपने आप में ही सिद्ध नहीं है। 'एकत्व' को सिद्ध मान कर हिन्दू तार्किकों ने 'अवयवी' की सिद्धि की है। अवयवों के स्कन्ध या ढेर को ही वैभाषिक पदार्थ मानते हैं। अवयव के लिए 'परमाणु' शब्द का प्रयोग होता है क्योंकि स्थूल पदार्थ का जो सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव है वह परमाणु है। इस प्रकार परमाणु-पुंज ही पदार्थ है यह निष्कर्ष निकला। हिन्दू तार्किक भी परमाणु मानते हैं पर उनके यहां परमाणु-पुंज पदार्थ नहीं है प्रत्युत उनसे व्यतिरिक्त एक 'अवयवी' पदार्थ है। परमाणु, पृथिवी, जल, तेज, और वायु के होते हैं। यह चार भूत कहलाते हैं। इन चार भूतो का कारण 'अविज्ञप्ति' है। अविज्ञप्ति क्या है सो तो ठीक-ठीक पता नहीं। सचमुच ही वह अ-विज्ञप्ति न जानी गयी चीज ही है। खैर, ये चार भूत, अविज्ञप्ति, पाच ज्ञानेन्द्रियां और उनके पाच, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श विषय एव कुल पन्द्रह को रूप स्कन्ध कहते हैं। चक्षु से रूप का, श्रोत्र से शब्द का, नासिका से गन्ध का, जिह्वा से रस का, शरीर (=काय, स्पर्शेन्द्रिय) से स्पर्श का और मन से धर्म (=मानसिक भावों) का जो ज्ञान सामान्यतया होता है उसे विज्ञान स्कन्ध कहते हैं। यदि इस ज्ञान में विषय की विशेषताए भी झलकें तो वह 'सज्ञास्कन्ध' होगा। जैसे आख से कोई स्त्री दिखाई पड़ी यह तो विज्ञान स्कन्ध हुआ पर यदि इस ज्ञान में स्त्री का रग, रूप, कद आदि की प्रतीति भी शामिल हो तो वह सज्ञास्कन्ध होगा क्योकि यह स=सम्यक् या विशेष रूप से ज्ञा=जानकारी हुई है। सुख-दुख की अनुभूति का नाम वेदना-स्कन्ध है। इन चारो स्कन्धों से जो कुछ बचा है वह सस्कार स्कन्ध है। इन पाचों स्कन्धो की सत्ता प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से अशाश्वत एव अनुच्छिन्न हैं। यह बात वैभाषिक तो मानते ही हैं पर सौत्रान्तिक भी इससे सहमत हैं।

इस दार्शनिक धारा में, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, नागार्जुन ने एक और नूतन बात पैदा कर दी। उन्होने कहा कि पाचो स्कन्धो की सत्ता निरपेक्ष नहीं है। किन्तु उनकी सत्ता सापेक्ष है। उन्होने साफ-साफ कहा है: कर्म कर्म करने वाले के बिना नहीं हो सकता। जब कर्म होता है तब कर्म का करने वाला भी होता है। सो कर्म और उसको करने वाला अर्थात् कारक अपनी-अपनी सिद्धि के लिए परस्पर की अपेक्षा रखते हैं। यह एक उदाहरण है। वस्तुत प्रत्येक सत्ता का यही हाल है। सब की सिद्धि सापेक्ष ही है।* सत्ता की सिद्धि सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। इसी का नाम 'शून्यवाद' है। शून्यवाद निरपेक्ष सत्ता की सिद्धि से इन्कार करता है। पता नहीं इसमें कौन सी असगति है जिसे देख कर शकर ने इसे 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' (ब्रह्मसूत्र २।२।३१) कहा है। इस शून्यवाद का विकास

* माध्यमिक कारिका ८।१२,१३।

भी प्रतीत्यसमुत्पाद पर ही अवलम्बित है। प्रतीत्यसमुत्पाद ने किस प्रकार अशाश्वत और अनुच्छेदवाद का स्थापन किया यह ऊपर कहा गया है। अशाश्वत और अनुच्छिन्न या परिवर्तनशील सत्ता में जो सत्ता की प्रतीति हो रही है वह भी निरपेक्ष नहीं है क्योंकि कार्य की सत्ता कारण की सत्ता की अपेक्षा रखती है। माध्यमिक शून्यवाद के प्रतिपादक नागार्जुन की मूल माध्यमिका कारिकाओं पर टीका करते समय इसीलिए चन्द्रकीर्ति ने प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ ही किया है 'हेतुप्रत्यय-सापेक्षो भावानामुत्पाद।' (पृ० ५) सो प्रतीत्यसमुत्पाद कोरा सकारणता और परि-वर्तन का नियम नहीं है प्रत्युत् वह सत्ता की सिद्धि भी सापेक्ष मान कर निर-पेक्ष सत्ता का खण्डन करता है।

यह खडन प्रणाली बडी रोचक है। काम बिना किये नहीं होता। कल्पना कीजिए, मैं रोटी बनाना चाहता हूँ। रोटी बनाना काम है जो मुझे करना है सो मैं रोटी का बनाने वाला या कर्ता या कारक हुआ। रोटी जिसे बनाना है वह मेरा काम या कर्म हुआ। पर इस काम के लिए मुझे कुछ करना-धरना भी पडेगा। खाली बैठे रहने से तो काम न चलेगा सो यह करना धरना या क्रिया भी इसके लिए चाहिएं। पर इतने से भी काम नहीं चल सकता। रोटी के लिए आटा चाहिए, पकाने के लिए चूल्हा आदि चाहिए। इन्हें कारण शब्द से कह सकते हैं। रोटी का कारण आटा है और रोटी उसका कार्य है पर यदि मैं हाथों से काम न लू तो यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता सो हाथ भी इसके असाधारण कारण हुए। इन कर्ता, कर्म, हेतु या कारण तथा कार्य की सिद्धि पर नागार्जुन के शब्दो में विवेचना करनी है।

यदि कर्म को स्वभावत (निरपेक्षत) सत् मानें तो कर्म को कर्ता की जरूरत न रहेगी और कर्ता भी निकम्मा हो जायगा क्योंकि उसके करने योग्य कर्म तो स्वभाव सत् है ही फिर उसके करने का सवाल ही क्या? यदि यह मानें कि कर्म स्वभाव से असत् है और वह असत् कर्ता के द्वारा किया जाता है तब बडी आफत होगी। कर्म बिना हेतु के हो जायगा, और कर्ता को भी निर्हेतुक ही कहना पडेगा। जब हेतु ही नहीं रहा तब कार्य-कारण का सवाल ही क्या? कार्य और कारण की व्यवस्था ही जब नहीं रही तब किसी कर्म या काम के करने की बात ही नहीं उठती और कर्ता-कारण कोई चीज ही नहीं रहते। इस प्रकार जब कुछ करने-धरने आदि की बात ही नहीं रही तब धर्म और अधर्म किसी की चर्चा बेकार है। (माध्यमिक कारिका ८।२-५)। अत स्वभावत या निरपेक्षत न तो सत्ता है और न अभाव ही है प्रत्युत काम के लिए जैसे कर्ता या करने वाले की अपेक्षा है वैसे ही कर्ता को काम या कर्म की अपेक्षा है। दोनो को बिना सापेक्ष माने सिद्धि नहीं हो सकती। सत्ता को सापेक्ष सिद्ध मानने पर भी व्यवहार में विरोध नहीं आता क्योंकि तत्त्वचिन्तक भी व्यवहार के समय लोक-प्रमाण पर ही चलता है। लोकप्रमाणक सत्य को संवृति-सत्य कहते हैं। सवृति-सत्य के अनुरोध से सत्ता को निरपेक्ष कहना दोष नहीं पर परमार्थ-सत्य के अनुरोध से उसकी सिद्धि सापेक्ष है। यह सापेक्षता, सकारणता और परिवर्तन का नियम ही नागार्जुन के मत से

प्रतीत्यसमुत्पाद हैं । प्रतीत्यसमुत्पाद को ही उन्होने शून्यवाद कहा है; 'य प्रतीत्य समुत्पाद शून्यता ता प्रचक्ष्महे' (माध्यमिक कारिका)। शून्यवाद के इतने स्पष्ट रहने पर भी यदि लोग ऊल-जुलूल ही उसे समझते रहें तो इसमें शून्यवाद के प्रवर्तक का दोष ही क्या ? 'न ह्येष स्थाणोरपराध., यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराध स भवति'।

जैसा कि पहले ही बताया गया है नागार्जुन के अनन्तर असग और वसुबन्धु फिर दो क्रातिकारी दार्शनिक हुए। इन्होने चित्त या विज्ञान को तो निरपेक्ष सिद्ध माना पर बाह्यार्थ को विज्ञानसापेक्ष कहा। फलतः बाह्य अर्थ भी विज्ञान के परिणाम या परिवर्तन का एक रूप बताया गया। जो बाह्य अर्थ को निरपेक्ष मानते थे उनका इन्होने खडन किया । सौत्रान्तिक और वैभाषिक परमाणु पुज को पदार्थ मानते थे । कणाद और अक्षपाद परमाणुओं से अतिरिक्त अवयवी की कल्पना करते थे । वसुबन्धु के बाह्यार्थ निराकरण को गौडपाद ने उसी रूप में मान लिया । यह मानना जरूरी भी था क्योकि वेदान्त में भी बाह्य सत्ता ब्रह्म-सापेक्ष ही है, निरपेक्ष नहीं ।

यहा हमने बुद्ध के दार्शनिक सिद्धात प्रतीत्यसमुत्पाद की पडताल की है । बुद्ध ने किसी को न तो शाश्वत माना और न किसी का उच्छेद या विनाश ही माना । सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों ने भी इसी बात को माना और विवेचना-पूर्वक पाचो स्कन्धों की निरपेक्ष सत्ता मानी । नागार्जुन ने इनकी सत्ता को सापेक्ष कहा। वसुबन्धु ने विज्ञान की सत्ता को निरपेक्ष और बाह्य सत्ता को उसी प्रकार विज्ञान सापेक्ष कहा जैसा कि वेदान्तियो ने बाद में बाह्य सत्ता को ब्रह्म-सापेक्ष माना। पर किसी ने न तो किसी को शाश्वत माना न किसी का उच्छेद। इतना स्पष्ट होते हुए भी विरोधी आलोचको ने सौगत दर्शन को वैनाशिक या उच्छेदवादी कहा है जो नितान्त भ्रम है। कदाचित् सौगत दर्शन को ठीक-ठीक जानकारी पाने का उन लोगों ने प्रयास ही नहीं किया।

बौद्ध दर्शन उच्छेद-विनाश या अभाववाद को मानता है, यही बात उसके आलोचकों ने बता रखी थी और इसी को मान कर उन्होने बडे-बडे दोष दिखाये थे। पर हम देखते है, उन्होने बौद्ध दर्शन को जिस रूप में उपस्थित किया वह उसका असली रूप नहीं है फिर भला उस पर थोपे दोष यथार्थ हो ही कैसे सकते हैं। बुद्ध का अवतार असुरो की प्रवचना के लिए हुआ और उनका दर्शन आत्मा का उच्छेद मानता है । यह दो व्यापक बातें जिनके उल्लेख से ब्राह्मण ग्रन्थ भरे हैं, आज गलत सिद्ध हो रहे हैं। आज बुद्ध का धर्म और दर्शन हमारे सामने है । बुद्ध ने आचरण के क्षेत्र में जैसे काय-पीडन तथा भोग-विलास के जीवन को मना कर मध्यम मार्ग से चलने का उपदेश दिया वैसे ही दार्शनिक क्षेत्रो में शाश्वत और उच्छेद दोनो मान्यताओ से बच कर अशाश्वत और अनुच्छेदवाद का स्थापन किया। बौद्ध दार्शनिको ने परिवर्तन मे जिस वैज्ञानिक सिद्धात प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या

के व्याज से अमूल्य ज्ञान निधि दी है, वह और उसके द्रष्टा बुद्ध दोनों नमस्य हैं :—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ।।
यः प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपंचोपशमं शिवम् ।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम् ।।

—नागार्जुन

अनुक्रमणी